CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कविवर भूधरदासजी

विरचित

4618

जैन शतक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुन्दकुन्द प्रकाशन माला का प्रथम पुष्प

जैन शतक

4618

रचयिता

महाकवि पण्डित भूधरदास

अनुवादक

वीरसागर जैन

पता : C/o श्री रामकिशनजी ताराचन्दजी जैन
मु०पो० गुढ़ाचन्द्रजी; पिन–३२२ २१३
जिला–सवाई माधोपुर (राजस्थान)

प्रकाशक

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन

भिण्ड (मध्यप्रदेश)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC-0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रथम संस्करण : ३२०० प्रतियाँ
दि० १ मार्च १९९०

प्राप्ति-स्थान :—

(१) अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन, शाखा भिण्ड
C/o के. के. टैण्ट हाउस, हाउसिंग कॉलोनी,
भिण्ड (मध्यप्रदेश)
टेलीफोन– २६६४ और २५८८

(२) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, भिण्ड
C/o श्री लालाराम वीरसेन जैन सर्राफ
सदर बाजार, भिण्ड (मध्यप्रदेश)
टेलीफोन– २६५७

मूल्य : दो रुपये मात्र

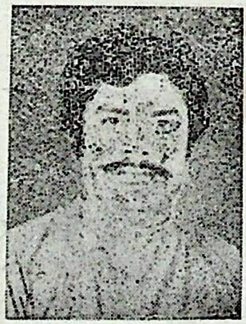

स्व० सुरेशचन्द्र जैन

आपकी चतुर्थ पुण्य-स्मृति में श्री वीरसेनजी जैन सर्राफ भिण्ड वालों ने ११११ रुपये इस पुस्तक का मूल्य कम करने हेतु प्रदान किये हैं।

मुद्रक :
श्री बालचन्द्र यन्त्रालय
'मानवाश्रम', दुर्गापुरा रोड,
जयपुर–३०२०१८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय

महाकवि पण्डित भूधरदासजी द्वारा रचित यह 'जैन शतक' आपके सम्मुख प्रस्तुत करते हुए हमें बहुत अधिक प्रसन्नता हो रही है। आप स्वयं तो इसका बारम्बार अवश्य स्वाध्याय कीजिए ही, अपने परिजनों व पुरजनों को भी इसे स्वाध्याय के लिए अवश्य दीजिए।

इसमें आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों ही प्रकार की बहुत सुन्दर शिक्षाएँ एवं प्रबल प्रेरणाएँ दी गई हैं। इसके बारे में बहुत अधिक कहने की सामर्थ्य हमारे पास नहीं है। वह सब तो आप इसके पुनः-पुनः अध्ययन-मनन से ही जान सकेंगे।

यद्यपि 'जैन शतक' के कुछ संस्करण पहले भी अन्य स्थानों से प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु इतना शुद्ध और सुन्दर संस्करण यह पहला ही है। इसमें प्रत्येक छन्द का सरल-सुबोध और प्रामाणिक अर्थ भी दिया गया है जिसे आदरणीय वीरसागरजी ने बहुत मेहनत से तैयार किया है। वीरसागरजी इन छन्दों का अर्थ बहुत अच्छी तरह समझाया करते हैं। हमारी तो इच्छा थी कि वे हर छन्द का विशेषार्थ भी लिखें जिसमें छन्द के भावपक्ष और कलापक्ष की गहराइयों को भी समझाया जावे, किन्तु अभी वे अपने पी-एच. डी. के कार्य में बहुत व्यस्त हैं, इसलिए इस संस्करण में वैसा नहीं हो सका है। हम उनसे विनम्रतापूर्वक आग्रह करते हैं कि अगले संस्करण में वे इस उत्तम कार्य को अवश्य कर दें। हमें पूर्ण विश्वास है कि अगले संस्करण में ऐसा हो जावेगा।

फिलहाल, हम 'जैन शतक' के हर छन्द का इतना अच्छा अर्थ लिखने के लिए हम उनको बहुत-बहुत धन्यवाद देते हैं और उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

इस पुस्तक के प्रकाशन में हमने इस बात का बहुत अधिक ध्यान रखा है कि इसकी कीमत कम से कम रहे, ताकि आप इसे आसानी से पढ़ सकें। उसके बाद भी हमने इसकी कीमत लागत से भी कम रखी है। आप इसे अवश्य खरीदिए, पढ़िये, पढ़ाइये और अपना जीवन सफल बनाइये।

– वीरसेन जैन सर्राफ
अध्यक्ष
श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, भिण्ड

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'जैन शतक' के गद्यानुवाद की कहानी

आज से लगभग डेढ़ वर्ष पहले मैंने श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, अलवर (राजस्थान) द्वारा प्रकाशित 'जैन शतक' पुस्तक का स्वाध्याय किया था। यह पुस्तक मुझे बहुत ही अच्छी लगी, इसलिए मैंने उसी समय दो बार और इसका आद्योपान्त स्वाध्याय कर लिया। बीस-बाईस छन्दों का तो सैंकड़ों बार पारायण हो गया होगा। वे मुझे अपने ही आप कंठस्थ हो गये। मैं उन्हें जब-तब रस ले-लेकर खूब गुनगुनाने लगा, अपने सम्पर्क में आने वाले प्रायः हर व्यक्ति को सुनाने-समझाने लगा, यहाँ तक कि अपने शास्त्र-प्रवचनों में भी उद्धृत करने लगा। और इसप्रकार, मैं इस 'जैन शतक' से बहुत प्रभावित हो उठा। या यों कहिए कि मैं 'जैन शतक' का 'दीवाना' ही हो गया।

इससे मेरे अनेक प्रिय मित्रों और धर्मानुरागी श्रोताओं को 'जैन शतक' के अध्ययन की प्रबल प्रेरणा प्राप्त हुई। मैं उन्हें अलवर से प्रकाशित 'जैन शतक' संस्करण देता। परन्तु यह बहुत ही साधारण रूप से छपा था। इसमें छन्दों का सरलार्थ तो दूर, किन्तु मूल छन्दों का मुद्रण भी सही रीति से नहीं हुआ। छन्दों के सभी (चारों/छहों) चरण एक-दूसरे के साथ घुले-मिले हुए थे। ऐसा लगता था, मानों गद्य हो। इसलिए कोई भी सामान्य पाठक उनका अर्थ समझना तो दूर, उन्हें ठीक तरह से गा भी नहीं सकता।

ऐसी स्थिति में मेरे मित्रों और श्रोताओं की प्रबल भावना हुई कि इस पुस्तक का पुनर्प्रकाशन ऐसा होना चाहिए जो सुन्दर और सुव्यवस्थित तो हो ही, उसमें प्रत्येक छन्द का प्रामाणिक अर्थ भी हो। उन्होंने इसके लिए मुझसे आग्रह किया। मेरी भी कुछ-कुछ इच्छा तो थी ही, परन्तु अन्य अध्ययन में व्यस्त होने के कारण उसमें साकार होने की क्षमता नहीं थी; मित्रों और श्रोताओं के आग्रह से उसे वह क्षमता प्राप्त हुई। फलस्वरूप दि० ३०-३-८९ को मैंने इसके पहले छन्द का अर्थ लिख लिया। शनैः शनैः गाड़ी आगे बढ़ निकली और लगभग छह माह में सरलार्थ-लेखन का कार्य करीब-करीब पूरा हो गया।

इस अवधि के बीच मुझे 'जैन शतक' के दो पुराने संस्करण और प्राप्त हुए। एक था – दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत का और दूसरा था –

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिगम्बर जैन धर्म पुस्तकालय, अनारकली, जैन गली, लाहौर का। ये दोनों संस्करण अलवर वाले संस्करण की अपेक्षा कई गुना अच्छे हैं। इन दोनों संस्करणों में प्रत्येक छन्द का अर्थ भी दिया गया है। सूरत वाले संस्करण का अर्थ (जिसे उन्होंने 'भावार्थ' कहा है) पण्डित ज्ञानचन्द्रजी जैन 'स्वतंत्र' ने लिखा है और लाहौर वाले संस्करण का अर्थ बाबू ज्ञानचन्द्रजी जैनी ने लिखा है।

परन्तु ये दोनों ही संस्करण आज बिल्कुल अनुपलब्ध हैं। सूरत वाला संस्करण सन् १९४७ ई० में छपा था और लाहौर वाला संस्करण सन् १९०९ ई० में छपा था।

दूसरी बात – इन दोनों संस्करणों के प्रकाशन में भी वैसी सुन्दरता और सुव्यवस्था तो है ही नहीं, छन्दों के अर्थों में भी कहीं-कहीं बड़ी भूलें और कमियाँ रह गई हैं, जो काव्य की गरिमा को भी कम करती हैं और ग्रन्थकार के मूल अभिप्राय को भी सही-सही नहीं समझातीं। उदाहरण के लिए छन्द-संख्या ३१ की यह पंक्ति देखिये :—

"मानुषभौ मुकताफलहार, गँवार तगाहित तोरत यौं ही ॥"

इसका सीधा-सच्चा अर्थ यह है कि 'मनुष्यभव मोतियों का हार है जिसे अज्ञानी प्राणी मात्र धागे के लिए व्यर्थ ही तोड़ रहा है – नष्ट कर रहा है'। किन्तु सूरत वाले संस्करण में इसका अर्थ छपा है कि 'मनुष्य की पर्याय मोतियों के हार (माला) जैसी है, मूर्ख इसके तागे को व्यर्थ ही तोड़ रहा है'। यह अर्थ बिल्कुल गलत है। धागा नहीं तोड़ा जा रहा है, बल्कि धागे के लिए मोतियों का हार तोड़ा जा रहा है।

इसीप्रकार छन्द-संख्या ४८ की यह आधी पंक्ति देखिये :—

'बुध संजम आदरहु'

इसका अर्थ एकदम स्पष्ट है कि 'ज्ञानपूर्वक संयम का आदर करो', किन्तु सूरत वाले संस्करण में इसका अर्थ छपा है कि 'बुधजनों की संगति करो'। पता नहीं इतना सरल अर्थ भी उसमें इतना गलत क्यों छपा है ?

एक नमूना और देखिये। छन्द-संख्या ५४ की अंतिम पंक्ति है :—

'गनिका सँग जे सठ लीन रहैं, धिक है धिक है धिक है तिनकौं।'

इसका अर्थ सूरत वाले संस्करण में छपा है कि 'जो मूर्ख वेश्या से प्रेम करते हैं उनके लिए तीन बार धिक्कार है'।

इस अर्थ को जरा मूल छन्द से मिलाकर देखिये। मूल छन्द में तीन बार 'धिक' शब्द का प्रयोग हुआ है इसलिए अनुवादक ने लिख दिया –

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'तीन बार धिक्कार है'; परन्तु यह नहीं सोचा कि 'धिक्' शब्द के साथ कवि ने हर बार 'है' क्रिया का प्रयोग क्यों किया है ? क्या एक बार 'है' लिखने से काम नहीं चलता था ?

अतः वास्तव में इसे इसप्रकार लिखना चाहिए कि 'जो मूर्ख वेश्या से प्रेम करते हैं उन्हें धिक्कार है, धिक्कार है, धिक्कार है' अथवा इसप्रकार लिखना चाहिए कि 'जो मूर्ख वेश्या से प्रेम करते हैं उन्हें बारम्बार धिक्कार है'। तीन बार लिखना बहुत बार का सूचक मानना चाहिए, क्योंकि तीन की संख्या एकवचन-द्विवचन आदि की कोटि से निकलकर बहुवचन में पहुँच जाती है।

अब आप छन्द-संख्या ५९ की अंतिम पंक्ति और देख लीजिए। यहाँ कैसा अनर्थ हो रहा है ! पंक्ति है :--

'धनि जीवन है तिन जीवनि कौ, धनि माय उनैं उर मांय वहै ।।'

इसका उचित अर्थ यह है कि 'धन्य है उन (उपर्युक्त प्रकार के सदाचारी) जीवों का जीवन और धन्य हैं वे माताएँ भी जिन्होंने उन जीवों को अपने उर (गर्भ) में धारण किया'।

किन्तु सूरतवाले संस्करण में छपा है कि 'उन्हीं का जीवन धन्य है और वे ही हृदय में धारण करने योग्य हैं'।

कितनी बड़ी भूल रह गई है ! ग्रन्थकार कवि तो सदाचारी पुरुषों की माताओं को भी धन्यवाद देना चाहते हैं, परन्तु अनुवादक ऐसा नहीं करते। पता नहीं क्यों ?

इसीप्रकार से कई छन्दों में अनेक महत्त्वपूर्ण शब्दों के अर्थ ही छोड़ दिये हैं। छन्द-संख्या ९६ में 'इस अपार जगजलधि' का अर्थ मात्र 'संसार-रूपी सागर' किया है। 'इस' और 'अपार' – इन दोनों शब्दों का अर्थ ही नहीं किया है।

'जैन शतक' का दूसरा संस्करण जो लाहौर से बाबू ज्ञानचन्द्रजी जैनी ने प्रकाशित करवाया है, सूरतवाले उक्त संस्करण की अपेक्षा बहुत उत्तम है। वह अर्थ की दृष्टि से इतना कमजोर नहीं है। उसके अर्थ करीब-करीब ठीक ही लिखे गये हैं। किन्तु उसमें भी कुछ भूलें बड़ी बुरी हुई हैं। उदाहरण के लिए छन्द-संख्या ९७ देखिये :—

'मिथ्यामत के मद छके, सब मतवाले लोय ।
सब मतवाले जानिए, जिनमत मत्त न होय ।।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसका अर्थ छापा गया है कि 'मिथ्यामतरूपी मद से छके हुए सब मत वाले लोग उन्मत्त हैं। सब ही को मस्त जानों, परन्तु जैनमत में मस्ती नहीं है।'

यहाँ 'सब ही को मस्त जानों, परन्तु जैनमत में मस्ती नहीं है' – ऐसा कहना कुछ जँचता नहीं है। इससे जैनमत की महिमा समाप्त हुई सी लगती है। ऐसा लगता है मानों अन्य सभी मतों को मानने वाले आनन्द में हैं, परन्तु जैनमत में आनन्द नहीं है। ऐसा अर्थ ग्रन्थकार कवि को बिल्कुल इष्ट नहीं है। अतः इसे यों कहना चाहिए कि 'अन्य मतों को मानने वाले सभी लोग मतवाले हो रहे हैं, परन्तु जैनमत में मतवालापन नहीं है'।

लाहौर वाले इस संस्करण में दूसरी सबसे बड़ी बात यह है कि इसकी भाषा बहुत टेढ़ी है; क्योंकि वह ८० वर्ष पूर्व लिखी गई थी, जबकि खड़ी बोली हिन्दी गद्य अपने परिष्कार के प्रारम्भिक चरण ही नाप रहा था। उसकी भाषा में न तो वाक्यविन्यास ही सुव्यवस्थित है, न शब्दों के रूप ही व्याकरणसम्मत हैं, और वाक्य अनावश्यक रूप से बहुत बड़े-बड़े भी बन गये हैं जो खूब उलझ गये हैं। उदाहरणार्थ पहले ही छन्द का अर्थ पढ़िये :—

"चार ज्ञान कहिए मति श्रुत अवधि मनःपर्यय इन चार ज्ञान रूपी जहाज में बैठ कर श्री गणधर देव भी जिस प्रभु के गुण रूपी समुद्र को नहीं तिर सके अर्थात् पार न पा सके और देवताओं के जो कहीं खोटे कर्म की लकीर बाकी थी उसके दूर करने के वास्ते जिस प्रभु को देवताओं के समूह ने जमीन पर सिर घस-घस कर प्रणाम करी है ऐसे कौन श्री ऋषभ देव स्वामी उनके आगे हम हाथ जोड़ कर उनके चरणों में पड़ते हैं।"

यहाँ आप देख रहे हैं कि यह पूरा का पूरा एक ही वाक्य है, इसमें कहीं एक अल्पविराम/अर्द्धविराम भी नहीं है। इसके अतिरिक्त 'कहिए' 'अर्थात्', 'वास्ते', 'ऐसे कौन' इत्यादि शब्दों के कारण जो दुर्बोधता और वक्रता आई है सो अलग।

ये ही उपर्युक्त स्थितियाँ है जिनके कारण मैंने 'जैन शतक' के छन्दों का नये सिरे से गद्यानुवाद किया है।

गद्यानुवाद करते समय मुझे इन छन्दों के बहुत गहरे-गहरे विशेषार्थ तो भासित हुये ही, कई छन्दों या छन्दांशों के तो अर्थ भी अनेक-अनेक भासित हुये, किन्तु यहाँ एक ही सरलार्थ दिया जा सका है। विशेष कभी भविष्य में देने का प्रयास करूँगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह गद्यानुवाद मैंने अपनी बुद्धि-अनुसार ही नहीं किया; अपितु उसमें डॉ० सीताराम लालस, रामचन्द्र वर्मा, वामन शिवराम आप्टे, मुहम्मद मुस्तफा खाँ 'मद्दाह' आदि द्वारा सम्पादित प्रामाणिक शब्दकोशों की भी पूरी सहायता ली है और विषय के अधिकारी विद्वानों से भी परामर्श किया है।

बालब्रह्मचारी पण्डित संतोषकुमारजी झाँझरी को – जो श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर तेरापंथियान, घी वालों का रास्ता, जयपुर में विगत २७ वर्षों से नियमित रूप से शास्त्र-प्रवचन करते हैं और चारों अनुयोगों के अच्छे अभ्यासी हैं – इस 'जैन शतक' के पूरे छन्द बचपन से ही कंठस्थ हैं। वे इन्हें यदा-कदा अपने प्रवचनों में भी बड़े प्रभावी ढंग से उद्धृत करते हैं।

मैंने इन छन्दों का यह अर्थ उन्हें भी दिखाया है। उन्होंने अपनी पैनी दृष्टि से इसकी सूक्ष्म से सूक्ष्म भूलों को भी दूर करा दिया है। मैं उनका आभार कैसे व्यक्त करूँ – समझ में नहीं आता। फिर क्या आभार व्यक्त कर देने मात्र से उऋण हो जाऊँगा ?

इसप्रकार यद्यपि मैंने छन्दों के अर्थ करने में पूरी सावधानी रखी है, तथापि निश्चित रूप से यह कैसे कह सकता हूँ कि अब इसमें कहीं कोई एक छोटी-सी भी गलती नहीं रही है। संभव है कोई भूल रह गई हो। विद्वानों से मैं विनम्रतापूर्वक अनुरोध करता हूँ कि वे अवश्य मुझे उससे अवगत करावें। इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ तो होऊँगा ही, अगले संस्करण में उन भूलों को ठीक भी करूँगा।

यहाँ मैं एक निवेदन और विशेष रूप से करना चाहता हूँ कि यद्यपि यहाँ छन्दों के साथ अर्थ भी प्रकाशित किया जा रहा है, किन्तु यदि आप मूल छन्दों को ही बार-बार पढ़कर इस कृति का आनन्द लेंगे तो बहुत अच्छा रहेगा; क्योंकि जो भाव, जो सरसता, जो गरिमा और जो चमत्कार आदि भूधरदासजी के मूल छन्दों में है, वह अर्थों में कहाँ ? अर्थ में वह सब आ भी नहीं सकता। अर्थ तो हमारी मजबूरी हुआ करती है।

अतः अर्थ को बार-बार पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। बार-बार तो आप मूल छन्दों को ही पढ़िये। हाँ, पहले एक बार अर्थ को पढ़कर उनका अर्थ अवश्य समझ लीजिए।

अन्त में, 'जैन शतक' का स्वाध्याय आपके जीवन में मंगलकारी हो – इस शुभकामना के साथ मैं अपनी बात पूर्ण करता हूँ।

– वीरसागर जैन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

4618

॥ नमः सिद्धेभ्यः ॥

जैन शतक

(१)

श्री आदिनाथ स्तुति

[सवैया – मात्रा ३२]

ज्ञानजिहाज बैठि गनधर-से, गुनपयोधि जिस नाँहि तरे हैं।
अमरसमूह आनि अवनी सौं, घसि-घसि सीस प्रनाम करे हैं॥
किधौं भाल-कुकरम की रेखा, दूर करन की बुद्धि धरे हैं।
ऐसे आदिनाथ के अहनिस, हाथ जोड़ि हम पाँय परे हैं॥

जिनके गुणसमुद्र का पार गणधर जैसे बड़े-बड़े नाविक अपने विशाल ज्ञानजहाजों द्वारा भी नहीं पा सके हैं और जिन्हें देवताओं के समूह स्वर्ग से पृथ्वी पर उतरकर पुनः-पुनः अपने सिर घिस-घिस कर इस तरह प्रणाम करते हैं मानों वे अपने ललाट पर बनी कुकर्मों की रेखा को दूर करना चाहते हों; उन प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथ को हम सदैव हाथ जोड़-कर प्रणाम करते हैं और उनकी शरण ग्रहण करते हैं।

(२)

[सवैया – ३२ मात्रा]

काउसग्ग मुद्रा धरि वन में, ठाड़े रिषभ रिद्धि तजि हीनी।
निहचल अंग मेरु है मानौ, दोऊ भुजा छोर जिन दीनी॥
फँसे अनंत जंतु जग-चहले, दुखी देखि करुना चित लीनी।
काढ़न काज तिन्हैं समरथ प्रभु, किधौं बाँह ये दीरघ कीनी॥

भगवान ऋषभदेव कायोत्सर्ग मुद्रा धारण कर वन में खड़े हुए हैं। उन्होंने समस्त ऐश्वर्य को तुच्छ जानकर छोड़ दिया है। उनका शरीर इतना निश्चल – स्थिर है मानों मेरू पर्वत हो। उन्होंने अपनी दोनों भुजाओं को शिथिलतापूर्वक नीचे छोड़ रखा है। ऐसा लगता है मानों संसाररूपी कीचड़ में फँसे हुए अनन्त प्राणियों को दुःखी देख कर उनके मन में करुणा उत्पन्न हुई हो और उन्होंने अपनी दोनों भुजाएँ उन प्राणियों को संसाररूपी कीचड़ से निकालने के लिए लम्बी की हों।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३)

[सवैया – मात्रा ३२]

करनौं कछु न करन तें कारज, तातैं पानि प्रलम्ब करे हैं ।
रह्यौ न कछु पाँयन तें पैवौ, ताही तें पद नाहिं टरे हैं ।।
निरख चुके नैनन सब यातैं, नैन नासिका-अनी धरे हैं ।
कानन कहा सुनैं यौं कानन, जोगलीन जिनराज खरे हैं ।।

जिनेन्द्र भगवान को हाथों से कुछ भी करना नहीं बचा है, अतः उन्होंने अपने हाथों को शिथिलतापूर्वक नीचे लटका दिया है । पैरों से किंचित् भी चलना नहीं बचा है, अतः उनके पैर एक स्थान से हिलते नहीं हैं, स्थिर हैं । सब कुछ देख चुके हैं, अतः आँखों को नासिका की नोक पर टिका दिया है । कानों से भी अब क्या सुनें ? इसलिए वे ध्यानस्थ होकर कानन (वन) में खड़े हैं, जहाँ कोई आवाज नहीं है ।

(४)

[छप्पय]

जयौ नाभिभूपालबाल, सुकुमाल सुलच्छन ।
जयौ स्वर्गपातालपाल, गुनमाल प्रतच्छन ।।
दृग विशाल वर भाल, लाल नख चरन विरज्जहिं ।
रूप रसाल मराल चाल, सुन्दर लखि लज्जहिं ।।
रिपु-जालकाल रिसहेश हम, फँसे जन्म-जंबाल-दह ।
यातैं निकाल बेहाल अति, भो दयाल ! दुख टाल यह ।।

नाभिराय के सुलक्षण और सुकुमार पुत्र श्री ऋषभदेव जयवन्त वर्तो ! स्वाभाविक रूप से व्यक्त हुए उत्कृष्ट गुणों के समुदाय स्वरूप श्री ऋषभदेव जयवन्त वर्तो ! स्वर्ग से पाताल तक तीनों लोकों का पालन करने वाले श्री ऋषभदेव जयवन्त वर्तो !

श्री ऋषभदेव के नेत्र विशाल हैं, उनका भाल श्रेष्ठ या विस्तृत है, उनके चरणों में लाल नख सुशोभित हैं, उनका रूप बहुत मनोहर है और उनकी सुन्दर चाल को देखकर हंस भी लज्जित होते हैं ।

हे कर्मशत्रुओं के समूह को नष्ट करने वाले भगवान ऋषभदेव ! जन्म-मरण के गहरे कीचड़ में फँसकर हमारी बहुत दुर्दशा हो रही है, अतः आप हमें उसमें से निकालकर हमारा महादुःख दूर कर दीजिये ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(५)

श्री चन्द्रप्रभ स्तुति [सवैया – मात्रा ३२]

चितवत वदन अमल-चन्द्रोपम, तजि चिंता चित होय अकामी ।
त्रिभुवनचन्द पापतपचन्दन, नमत चरन चंद्रादिक नामी ।।
तिहुँजग छई चन्द्रिका-कीरति, चिह्न चन्द्र चिंतत शिवगामी ।
बन्दौं चतुर चकोर चन्द्रमा, चन्द्रवरन चंद्रप्रभ स्वामी ।।

जिनके निर्मल चन्द्रमा के समान मुख का दर्शन करते ही भव्य जीवों का चित्त समस्त चिन्ताओं का त्याग कर अकामी (समस्त इच्छाओं से रहित) हो जाता है, जो तीन लोकों के चन्द्रमा हैं, जो पापरूपी आतप के लिए चन्दन हैं, जिनके चरणों में बड़े प्रसिद्ध चन्द्रादिक देव भी प्रणाम करते हैं, जिनकी उज्ज्वल कीर्तिरूपी चाँदनी तीनों लोकों में छाई हुई है, जिनके चन्द्रमा का चिह्न है, मोक्षाभिलाषी जीव जिनका स्मरण करते हैं, जो बुद्धिमान पुरुष रूपी चकोरों के लिए चन्द्रमा हैं, और जिनका वर्ण चन्द्रमा के समान उज्ज्वल है; उन चन्द्रप्रभ स्वामी को मैं प्रणाम करता हूँ ।

(६)

श्री शान्तिनाथ स्तुति [मत्तगयन्द सवैया]

शांति जिनेश जयौ जगतेश, हरै अघताप निशेश की नांई ।
सेवत पाय सुरासुरराय, नमैं सिर नाय महीतल तांई ।।
मौलि लगे मनिनील दिपैं, प्रभु के चरनौं झलकैं वह झांई ।
सूँघन पाँय-सरोज-सुगंधि, किधौं चलि ये अलिपंकति आई ।।

जो पापरूपी आतप को चन्द्रमा के समान हरते हैं, सुरेन्द्र और असुरेन्द्र भी जिनके चरणों की सेवा करते हैं, सम्पूर्ण पृथ्वी के प्राणी जिन्हें सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं, वे जगतस्वामी श्री शांतिनाथ भगवान जयवन्त वर्तो !

हे शांतिनाथ भगवान ! जिस समय आपको सुरेन्द्र और असुरेन्द्र सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं और उनके मुकुटों में लगी हुई दिव्य नील-मणियों की परछाई आपके चरणों पर झलकती है तो उस समय ऐसा लगता है मानों आपके चरणकमलों की सुगन्ध सूँघने के लिए भ्रमरों की पंक्ति ही चली आई है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री नेमिजिन स्तुति (७) [कवित्त मनहर – ३१ वर्ण]

शोभित प्रियंग अंग देखैं दुख होय भंग,
लाजत अनंग जैसैं दीप भानुभास तैं।
बालब्रह्मचारी उग्रसेन की कुमारी जादो-
नाथ ! तैं निकारी जन्मकादो-दुखरास तैं ॥
भीम भवकानन मैं आन न सहाय स्वामी,
अहो नेमि नामी तकि आयौ तुम तासतैं।
जैसैं कृपाकंद वनजीवन की बन्द छोरी,
त्यौंही दास को खलास कीजे भवपास तैं ॥

हे भगवान नेमिनाथ ! आपका शरीर प्रियंगु के फूल के समान श्याम वर्ण से सुशोभित है, आपके दर्शन से सारा दुःख दूर हो जाता है, आपके सामने कामदेव भी इस प्रकार लज्जित होता है, जैसे सूर्य की प्रभा के सामने दीपक। आप बालब्रह्मचारी हैं। हे यादवनाथ ! आपने सांसारिक कीचड़ के अनन्त दुःखों में से महाराजा उग्रसेन की कन्या (राजुल) को भी निकाला है। हे सुप्रसिद्ध नेमिनाथ स्वामी ! इस भयानक संसाररूपी जंगल में अन्य कोई शरण नहीं है, इसलिए मैं तो आपकी ही शरण में आया हूँ। हे कृपाकंद ! जिस प्रकार आपने पशुओं को बन्धनमुक्त कराया था, उसी प्रकार मुझ सेवक को भी संसार-जाल से मुक्त कर दीजिये।

श्री पार्श्वनाथ स्तुति (८) [छप्पय]

जनम-जलधि-जलजान, जान जनहंस-मानसर।
सरव इन्द्र मिलि आन, आन जिस धरहिं सीस पर ॥
परउपगारी बान, बान उत्थपइ कुनय-गन।
गन-सरोजवन-भान, भान मम मोह-तिमिर-घन ॥
घनवरन देहदुख-दाह हर, हरखत हेरि मयूर-मन।
मनमथ-मतंग-हरि पासजिन, जनि विसरहु छिन जगतजन ! ॥

हे संसार के प्राणियो ! भगवान पार्श्वनाथ को कभी क्षण भर भी मत भूलो। वे संसाररूपी समुद्र को तिरने के लिए जहाज हैं, भव्यजीव-रूपी हंसों के लिए मानसरोवर हैं, इन्द्र आकर उनकी आज्ञा मानते हैं, उनके वचन परोपकारी और कुनय-समूह की प्रकृति को बाण की तरह उखाड़ फेंकने वाले हैं, वे मुनिसमुदायरूपी कमल के वनों (समूहों) के लिए सूर्य हैं, आत्मा के घने मोहान्धकार को नष्ट करने वाले हैं, मेघ के समान वर्णवाले हैं, सांसारिक दुःखों की ज्वाला को हरने वाले हैं, उन्हें पाकर मनमयूर प्रसन्न हो जाता है, और वे कामदेवरूपी हाथी के लिए सिंह हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री वर्द्धमान जिन स्तुति (९) [दोहा]

दिढ़-कर्माचल-दलन पवि, भवि-सरोज-रविराय ।
कंचन छवि कर जोर कवि, नमत वीरजिन-पाँय ।।

प्रबल-कर्म-पर्वत को चकनाचूर करने के लिए जो वज्र के समान हैं, भव्यजीवरूपी कमलों को खिलाने के लिए जो श्रेष्ठ सूर्य के समान हैं और जिनकी प्रभा स्वर्णिम है, उन भगवान महावीर के चरणों में मैं हाथ जोड़ कर प्रणाम करता हूँ ।

(१०) [सवैया – ३१ मात्रा]

रहौ दूर अंतर की महिमा, बाहिज गुन वरनन बल का पै ।
एक हजार आठ लच्छन तन,-तेज कोटिरवि-किरनि उथापै ।।
सुरपति सहसआँख-अँजुलि सौं, रूपामृत पीवत नहि धापै ।
तुम बिन कौन समर्थ वीर जिन, जग सौं काढ़ि मोख मैं थापै ।।

हे भगवान महावीर ! आपके अन्तरंग गुणों की महिमा तो दूर, बहिरंग गुणों का भी वर्णन करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है ।

एक हजार आठ लक्षणों से युक्त आपके शरीर का तेज करोड़ों सूर्यों की किरणों को उखाड़ फेंकता है अर्थात् आपके शरीर के तेज की बराबरी करोड़ों सूर्य भी नहीं कर सकते हैं । देवताओं का राजा इन्द्र हजार आँखों की अंजुलि से भी आपके रूपामृत को पीता हुआ तृप्त नहीं होता है ।

हे वीर प्रभो ! इस जगत् में आपके अतिरिक्त अन्य कौन ऐसा समर्थ है जो कि संसार से निकालकर मोक्ष में स्थापित कर सके ?

श्री सिद्ध स्तुति (११) [मत्तगयंद]

ध्यान-हुताशन मैं अरि-ईंधन, झोंक दियो रिपुरोक निवारी ।
शोक हर्यो भविलोकन कौ वर, केवलज्ञान-मयूख उघारी ।।
लोक-अलोक विलोक भये शिव, जन्म-जरा-मृत पंक पखारी ।
सिद्धन थोक बसैं शिवलोक, तिन्हैं पगधोक त्रिकाल हमारी ।।

जिन्होंने आत्मध्यानरूपी अग्नि में कर्मशत्रुरूपी ईंधन को झोंककर समस्त बाधाओं को दूर कर दिया है, भव्य जीवों का शोक नष्ट कर दिया है, केवलज्ञानरूपी उत्तम किरणें प्रकट कर ली हैं, सम्पूर्ण लोक-अलोक को देख लिया है, जो मुक्त हो गये हैं और जिन्होंने जन्म-जरा-मरण की कीचड़ को साफ कर दिया है; उन मोक्षनिवासी सिद्ध भगवन्तों के समूह को त्रिकाल – सदैव हमारी पाँवाढोक मालूम होवे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

 CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री सिद्ध स्तुति (१२) [मत्तगयंद]

तीरथनाथ प्रनाम करैं, तिनके गुनवर्णन मैं बुधि हारी।
मोम गयौ गलि मूस मँझार, रह्यौ तहँ व्योम तदाकृतिधारी।।
लोक गहीर-नदीपति-नीर, गये तिर तीर भये अविकारी।
सिद्धन थोक बसैं शिवलोक, तिन्हैं पगधोक त्रिकाल हमारी।।

जिन्हें तीर्थंकरदेव प्रणाम करते हैं, जिनके गुणों के वर्णन करने में बुद्धि हार जाती है, जो मोम के साँचे में मोम के गल जाने पर बचे हुए तदाकार आकाश की भाँति अपने अंतिम शरीराकाररूप से स्थित हैं, जिन्होंने संसारसमुद्र को तिरकर किनारा प्राप्त कर लिया है और जो विकारी भावों से रहित शुद्ध दशा को प्राप्त हुए हैं; उन सिद्ध भगवन्तों के समूह को त्रिकाल – सदैव हमारी पाँवाढोक मालूम होवे।

(१३)

श्री साधु स्तुति [कवित्त मनहर]

शीतरितु जोरैं अंग सब ही सकोरैं तहाँ,
तन को न मोरैं नदीधौरैं धीर जे खरे।
जेठ की झकोरैं जहाँ अण्डा चील छोरैं
पशु-पंछी छाँह लौरैं गिरिकोरैं तप वे धरें।।
घोर घन घोरैं घटा चहूँ ओर डोरैं ज्यौं-ज्यौं,
चलत हिलारैं त्यौं-त्यौं फोरैं बल ये अरे।
देहनेह तोरैं परमारथ सौं प्रीति जोरैं,
ऐसे गुरु ओरैं हम हाथ अंजुली करें।।

जो धीर, जब सब लोग अपने शरीर को संकुचित किये रहते हैं ऐसी कड़ाके की सर्दी में अपने शरीर को बिना कुछ भी मोड़े, नदी-किनारे खड़े रहते हैं; जब चील अंडा छोड़ दे और पशु-पक्षी छाया चाहते फिरें ऐसी जेठ माह की लूओं (गर्म हवाओं) वाली तेज गर्मी में पर्वत-शिखर पर तप करते हैं, तथा गरजती हुई घनघोर घटाओं और प्रबल पवन के झोंकों में अपने पुरुषार्थ को अधिकाधिक स्फुरायमान करते हुए डटे रहते हैं, शरीर सम्बन्धी राग को तोड़कर परमार्थ से प्रीति जोड़ते हैं; उन गुरुओं को हम हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री जिनवाणी स्तुति (१४) [मत्तगयंद सवैया]

वीरहिमाचल तें निकसी, गुरु गौतम के मुखकुण्ड ढरी है।
मोहमहाचल भेद चली, जग की जड़तातप दूर करी है।।
ज्ञानपयोनिधि माँहि रली, बहु भंग-तरंगनि सौं उछरी हैं।
ता शुचि शारद गंगनदी प्रति, मैं अँजुरी निज सीस धरी है।।

जो भगवान महावीररूपी हिमालय पर्वत से निकली है, गौतम गणधर के मुखरूपी कुण्ड में ढली है, मोहरूपी विशाल पर्वतों का भेदन करती चल रही है, जगत् की अज्ञानरूपी गर्मी को दूर कर रही है, ज्ञानसमुद्र में मिल गई है और जिसमें भंगों रूपी बहुत तरंगें उछल रही हैं, उस जिनवाणीरूपी पवित्र गंगा नदी को मैं हाथ जोड़कर और शीश नँवाकर प्रणाम करता हूँ।

(१५) [मत्तगयंद सवैया]

या जग-मन्दिर मैं अनिवार, अज्ञान-अँधेर छयौ अति भारी।
श्रीजिन की धुनि दीपशिखा सम, जो नहिं होती प्रकाशनहारी।।
तो किहँ भाँति पदारथ-पाँति, कहाँ लहते, रहते अविचारी।
या विधि संत कहैं धन हैं, धन हैं जिनवैन बड़े उपगारी।।

ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि इस संसाररूपी भवन में अज्ञानरूपी अत्यधिक घना अन्धकार छाया हुआ है। उसमें प्रकाश करने वाली यदि यह जिनवाणीरूपी दीपशिखा नहीं होती तो हम वस्तु का स्वरूप समझकर भेदज्ञान कैसे प्राप्त करते? इसके बिना तो हम अविचारी – अज्ञानी ही रह जाते। अहो! धन्य है! धन्य है! जिनवचन परम उपकारी हैं।

जिनवाणी और मिथ्यावाणी (१६) [कवित्त मनहर]

कैसे करि केतकी-कनेर एक कहि जाय,
आकदूध-गायदूध अन्तर घनेर है।
पीरी होत रीरी पै न रीस करै कंचन की,
कहाँ काग-वानी कहाँ कोयल की टेर है।।
कहाँ भान भारौ कहाँ आगिया बिचारौ कहाँ,
पूनौ को उजारौ कहाँ मावस-अँधेर है।
पच्छ छोरि पारखी निहारौ नेक नीके करि,
जैनवैन-औरवैन इतनौं ही फेर है।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केतकी और कनेर को एक समान कैसे कहा जा सकता है ? उन दोनों में तो बहुत अन्तर है। आक के दूध और गाय के दूध को एक समान कैसे कहा जा सकता है ? उन दोनों में तो बहुत अन्तर है। इसीप्रकार यद्यपि पीतल भी पीला होता है, पर वह कंचन की समानता नहीं कर सकता है। हे भाई ! जरा तुम ही विचारो ! कहाँ कौए की आवाज और कहाँ कोयल की टेर ! कहाँ दैदीप्यमान सूर्य और कहाँ बिचारा खद्योत ! कहाँ पूर्णिमा का प्रकाश और कहाँ अमावस्या का अन्धकार !

हे पारखी ! अपना पक्ष (दुराग्रह) छोड़कर जरा सावधानीपूर्वक देखो, जिनवाणी और अन्यवाणी में उपर्युक्त उदाहरणों की भाँति बहुत अन्तर है। कहाँ जिनेन्द्रदेव की वाणी और कहाँ अन्यमतियों की वाणी !

(१७)

[कवित्त मनहर]

वैराग्य-कामना

कब गृहवास सौं उदास होय वन सेऊँ,
वेऊँ निजरूप गति रोकूँ मन-करी की।
रहि हौं अडोल एक आसन अचल अंग,
सहि हौं परीसा शीत-घाम-मेघ-झरी की ॥
सारंगसमाज खाज कबधौं खुजैहैं आनि,
ध्यान-दल-जोर जीतूँ सेना मोह-अरी की।
एकलविहारी जथाजातलिंगधारी कब,
होऊँ इच्छाचारी बलिहारी हौं वा घरी की ॥

अहो ! वह घड़ी कब आयेगी, जब मैं गृहस्थदशा से विरक्त होकर वन में जाऊँगा, अपने मनरूपी हाथी को वश में करके निज आत्मस्वरूप का अनुभव करूँगा, एक आसन पर निश्चलतया स्थिर रहकर सर्दी, गर्मी, वर्षा के परीषहों को सहन करूँगा, मृगसमूह (मेरे निश्चल शरीर को पाषाण समझकर उससे) अपनी खाज (चर्मरोग) खुजायेगा और मैं आत्मध्यानरूपी सेना के बल से मोहरूपी शत्रु की सेना को जीतूँगा ?

मैं ऐसी उस अपूर्व घड़ी की बलिहारी जाता हूँ, जबकि मैं एकल-विहारी होऊँगा, यथाजातलिंगधारी (पूरी तरह नग्न दिगम्बर) होऊँगा और स्वच्छन्द वृत्तिवाला होऊँगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१८)

राग और वैराग्य का अन्तर [कवित्त मनहर]

राग-उदै भोगभाव लागत सुहावने-से,
विना राग ऐसे लागैं जैसैं नाग कारे हैं।
राग ही सौं पाग रहे तन मैं सदीव जीव,
राग गये आवत गिलानि होत न्यारे हैं।।
राग ही सौं जगरीति झूठी सब साँची जानै,
राग मिटैं सूझत असार खेल सारे हैं।
रागी-विनरागी के विचार मैं बड़ौई भेद,
जैसे भटा पच काहू काहू को वयारे हैं।।

पंचेन्द्रिय के विषययोग और उन्हें भोगने के भाव, राग (मिथ्यात्व) के उदय में बहुब सुहावने लगते हैं, परन्तु वैराग्य होने पर काले नाग के समान (दुःखदायी और हेय) प्रतीत होते हैं।

राग ही के कारण अज्ञानी जीव शरीरादि में रम रहे हैं – एकत्वबुद्धि कर रहे हैं। राग समाप्त हो जाने पर तो शरीरादि से भेदज्ञान प्रकट होकर विरक्ति उत्पन्न हो जाती है।

राग ही के कारण अज्ञानी जीव जगत् की समस्त झूठी स्थितियों को सच्ची मान रहा है; राग समाप्त हो जाने पर तो जगत् का सारा खेल असार दिखाई देता है।

इसप्रकार रागी (मिथ्यादृष्टि) और विरागी (सम्यग्दृष्टि) के विचार (मान्यता) में बड़ा भारी अन्तर होता है। बैंगन किसी को पच जाते हैं और किसी को बादी करते हैं।

आशय यह है कि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि की मान्यता में जमीन-आसमान का अन्तर होता है। मिथ्यादृष्टि को विषयभोग उपादेय और सुखदायी लगते हैं, पर सम्यग्दृष्टि उन्हें काले नाग के समान हेय और दुःखदायी समझता है। मिथ्यादृष्टि शरीरादि परपदार्थों में एकत्वबुद्धि करता है, पर सम्यग्दृष्टि उन्हें पर जानकर उनसे विरक्त रहता है। मिथ्यादृष्टि जगत् के झूठे सम्बन्धों को सारभूत समझता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि उन्हें नितान्त सारहीन मानता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोग-निषेध (१९) [मत्तगयंद सवैया]

तू नित चाहत भोग नए नर ! पूरवपुन्य विना किम पैहै ।
कर्मसँजोग मिले कहिं जोग, गहे तब रोग न भोग सकै है ।।
जो दिन चार कौ ब्योंत बन्यौं कहुँ, तौ परि दुर्गति मैं पछितैहै ।
याहितैं यार सलाह यही कि, गई कर जाहु निबाह न ह्वै है ।।

हे मित्र ! तुम नित्य नये-नये भोगों की अभिलाषा करते हो, किन्तु यह तो सोचो कि तुम्हारे पुण्योदय के बिना वे तुम्हें मिल कैसे सकते हैं ? और, कदाचित् पुण्योदय से मिल भी गये तो हो सकता है रोगादिक के कारण तुम उन्हें भोग ही नहीं सको । और, यदि चार दिन के लिए भोग भी लिये तो उससे क्या हुआ ? दुर्गति में जाकर दुःख उठाना पड़ेंगे । इसलिए हे प्यारे मित्र ! हमारी तो सलाह यही है कि तुम इनकी ओर से गई कर जाओ – उदास हो जाओ – इनकी उपेक्षा कर दो, अन्यथा पार नहीं पड़ेगी ।

आशय यह है कि प्रथम तो वांछित भोगों का मिलना ही कठिन है, मिल जाये तो उन्हें भोगना कठिन है, और थोड़ा-बहुत भोगना भी हो जाये तो उससे भी कोई तृप्ति तो मिलती नहीं और परभव में दुर्गति के दुःख और उठाने पड़ते हैं; अतः उचित तो यही है कि विषयभोगों की अभिलाषा त्यागकर आत्मकल्याण किया जाये ।

(२०)

देह-स्वरूप [मत्तगयंद सवैया]

मात-पिता-रज-वीरज सौं, उपजी सब सात कुधात भरी है ।
माखिन के पर माफिक बाहर, चाम के बेठन बेढ़ धरी है ।।
नाहिं तौ आय लगैं अब ही बक, वायस जीव बचै न घरी है ।
देहदशा यहै दीखत भ्रात ! घिनात नहीं किन बुद्धि हरी है ।।

यह शरीर माता-पिता के रज-वीर्य से उत्पन्न हुआ है, जिसमें अत्यन्त अपवित्र सप्त धातुएँ (रस, रुधिर, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा और वीर्य) भरी हुई हैं । वह तो इसके ऊपर मक्खी के पर के समान पतला-सा वेष्टन चढा हुआ है, अन्यथा इस पर इसी वक्त बगुले-कौए आकर टूट पड़ें और यह देखते-देखते साफ हो जाये, घड़ी भर भी न बचे ।

शरीर की ऐसी अपवित्र दशा को देखकर भी हे भाई ! तुम इससे विरक्त क्यों नहीं होते हो ? तुम्हारी बुद्धि किसने हर ली है ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२१)

संसार का स्वरूप और समय की बहुमूल्यता [कवित्त मनहर]

काहू घर पुत्र जायौ काहू के वियोग आयौ,
काहू राग-रंग काहू रोआ रोई करी है।
जहाँ भान ऊगत उछाह गीत गान देखे,
साँझ समै ताही थान हाय हाय परी है॥
ऐसी जगरीति को न देखि भयभीत होय,
हा हा नर मूढ़ ! तेरी मति कौनें हरी है।
मानुषजनम पाय सोवत विहाय जाय,
खोवत करोरन की एक-एक घरी है॥

अब यहाँ संसार का स्वरूप दिखाते हुए कहते हैं कि इस संसार की रीति बड़ी विचित्र और वैराग्योत्पादक है। यहाँ किसी घर में पुत्र-जन्म होता है और किसी घर में मरण होता है। किसी के राग-रंग होते हैं और किसी के रोया-राई मची रहती है। जिस स्थान पर प्रातःकाल उत्साह और नृत्यगानादि दिखाई देते हैं, शाम होते-होते उसी स्थान पर 'हाय ! हाय !' का करुण क्रन्दन मच जाता है।

संसार के ऐसे स्वरूप को देखकर भी हे मूढ़ पुरुष ! तुम इससे विरक्त नहीं होते हो; पता नहीं, तुम्हारी बुद्धि किसने हर ली है ?

तुम, जिसकी एक-एक घड़ी अत्यधिक मूल्यवान है – ऐसे मनुष्य जन्म को पाकर भी उसे प्रमाद और अज्ञान दशा में ही रहकर व्यर्थ खो रहे हो।

(२२)

[सोरठा]

कर कर जिनगुन पाठ, जात अकारथ रे जिया।
आठ पहर मैं साठ, घरी घनेरे मोल कीं॥

हे जीव !, अथवा हे मेरे मन ! तू जिनेन्द्र के गुणों का स्तवन कर, अन्यथा प्रतिदिन आठों पहर की साठ-साठ घड़ियाँ व्यर्थ ही समाप्त होती जा रही हैं, जो कि अत्यधिक मूल्यवान हैं।

विशेष :– एक घड़ी = २४ मिनट। एक पहर = ३ घण्टे। एक घण्टा = ढ़ाई घड़ी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२३)

[सोरठा]

कानी कौड़ी काज, कोरिन को लिख देत खत ।
ऐसे मूरखराज, जगवासी जिय देखिये ।।

अहो ! इस जगत् में ऐसे-ऐसे मूर्खराज (अज्ञानी प्राणी) दिखाई देते हैं, जो कानी-कौड़ी के लिए करोड़ों का कागज लिख देते हैं । अर्थात् क्षणिक विषय-सुख के लोभ में अमूल्य मनुष्य भव बरबाद कर घोर दुःख देने वाले प्रबल कर्मों का बन्ध कर लेते हैं ।

(२४)

[दोहा]

कानी कौड़ी विषयसुख, भवदुख करज अपार ।
विना दियें नहिं छूटिहैं, बेशक लेय उधार ।।

हे भाई ! विषय-सुख तो कानी कोड़ी के समान हैं जिनका कर्ज संसार के अपार दुःख हैं; जो कि पूरा-पूरा चुकाना पड़ता है, लेश मात्र भी बिना चुकाये नहीं रहता । ले ले खूब उधार !

शिक्षा (२५) [छप्पय]

दश दिन विषयविनोद, फेर बहु विपति परंपर ।
अशुचिगेह यह देह, नेह जानत न आप जर ।।
मित्र बन्धु-सनमन्ध और, परिजन जे अंगी ।
अरे अंध सब धन्ध, जान स्वारथ के संगी ।।
परहित अकाज अपनौ न कर, मूढ़राज ! अब समझ उर ।
तजि लोकलाज निजकाज कर, आज दाव है कहत गुरं ।।

विषयों में विनोद तो दश दिन का ही है, उसके बाद तो विपत्तियों पर विपत्तियाँ आने वाली हैं । विषयविनोद का साधन यह शरीर तो अशुचिगृह है, अचेतन है, जीव द्वारा किये गये स्नेह को समझता तक नहीं है । मित्रजन, बन्धु-बांधव, कुटुम्बी आदि समस्त रिश्ते-नातेदारों के भी सारे व्यवहार अज्ञानजन्य और दुःखदायी हैं । वे सब तो स्वार्थ के साथी हैं ।

अतः हे मूढ़राज ! तू दूसरे के लिए अपना नुकसान न कर ! अब तो अपने हृदय में समझ ! गुरुवर कहते हैं कि आज तुझे अच्छा अवसर प्राप्त हुआ है, अतः लोकलाज का त्यागकर आत्मा का कल्याण कर ले ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२६) [कवित्त मनहर]

जौलौं देह तेरी काहू रोग सौं न घेरी जौलौं,
जरा नाहि नेरी जासों पराधीन परिहै ।
जौलौं जमनामा वैरी देय ना दमामा जौलौं,
मानैं कान रामा बुद्धि जाइ ना विगरि है ।।
तौलौं मित्र मेरे निज कारज सँवार ले रे,
पौरुष थकैंगे फेर पीछैं कहा करिहै ।
अहो आग आयें जब झोंपरी जरन लागी,
कुआ के खुदायें तब कौन काज सरिहै ।।

हे मेरे प्रिय मित्र ! जब तक तुम्हारे शरीर को कोई रोगादिक नहीं घेर लेता है, पराधीन कर डालनेवाला बुढ़ापा जब तक तुम्हारे पास नहीं आ जाता है, प्रसिद्ध शत्रु यमराज का डंका जब तक नहीं बज जाता है, और बुद्धि रूपी आज्ञाकारी पत्नी जब तक बिगड़ नहीं जाती है; उससे पहले-पहले तुम अपना आत्मकल्याण अवश्य कर लो, अन्यथा बाद में तुम्हारी शक्ति ही क्षीण हो जावेगी, तब क्या कर पाओगे ? कुँआ आग लगने से पहले ही खोद लेना चाहिए । जब आग से झौंपड़ी जलने लगे, तब कुआ खुदाने से क्या लाभ ?

(२७)

सौ हि वरष आयु ताका लेखा करि देखा सब,
आधी तौ अकारथ ही सोवत विहाय रे ।
आधी मैं अनेक रोग बाल-वृद्ध दशा भोग,
और हु सँयोग केते ऐसे बीत जाँय रे ।।
बाकी अब कहा रही ताहि तू विचार सही,
कारज की बात यही नीकैं मन लाय रे ।
खातिर मैं आवै तौ खलासी कर इतने मैं,
भावै फँसि फंदबीच दीनौं समुझाय रे ।।

मनुष्य की आयु सामान्यतः सौ वर्ष बताई जाती है; परन्तु यदि इसका हिसाब लगाकर देखा जाये तो आधी आयु तो सोने में ही व्यर्थ चली जाती है । रही मात्र पचास वर्ष, जिसमें भी अनेक रोग होते हैं, नासमझ रूप बाल दशा होती है, असमर्थरूप वृद्ध दशा होती है, उन्मत्तरूप भोग दशा होती है तथा और भी कितने ही ऐसे-वैसे अनेक संयोग बन जाते हैं । कितनी शेष रही ? नहीं के बराबर । अतः हे भाई ! भलीप्रकार विचारकर प्रयोजनभूत बात को अपने हृदय में अच्छी तरह उतार लो, इसी में लाभ है । हे भाई ! यदि तुम्हारे जँचती हो तो भवबन्धनों से मुक्त हो जाओ; अन्यथा तुम्हारी मर्जी, फँसे रहो भवबन्धनों में; हमने तो तुम्हें समझा दिया है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बुढ़ापा (२८) [कवित्त मनहर]

बालपनैं बाल रह्यौ पीछे गृहभार वह्यौ,
लोकलाज काज बाँध्यौ पापन कौ ढेर है।
आपनौ अकाज कीनौं लोकन में जस लीनौं,
परभौ विसार दीनौं विषैवश जेर है॥
ऐसे ही गई विहाय, अलप-सी रही आय,
नर-परजाय यह आँधे की वटेर है।
आये सेत भैया अब काल है अवैया अहो,
जानी रे सयानैं तेरे अजौं हू अँधेर है॥

हे भाई! तुम बाल्यावस्था में नासमझ रहे, उसके बाद तुमने गृहस्थी का बोझा ढोया, लोकमर्यादाओं के खातिर बहुत-से पाप उपार्जित किये, अपना नुकसान करके भी लोकबढ़ाई प्राप्त की, अगले जन्म तक को भूल गये – कभी यह विचार तक न किया कि अगले भव में मेरा क्या होगा, फँसे रहे विषयों के बन्धनों में। और इसप्रकार तुम्हारी इस अंधे की बटेर के समान महादुर्लभ मनुष्यपर्याय की आयु, जो वैसे ही थोड़ी-सी थी, व्यर्थ ही चली गई है। अब तो बुढ़ापा आ गया है और तुम्हें मालूम भी है कि मृत्यु आने ही वाली है; परन्तु अहो! तुम अभी भी आत्मा का हित करने के लिए सचेत नहीं हुए हो। ज्ञात होता है – तुम्हारे अन्दर अभी भी अँधेर है।

(२९) [मत्तगयन्द सवैया]

बालपनै न सँभार सक्यौ कछु, जानत नाँहि हिताहित ही को।
यौवन वैस वसी वनिता उर, कै नित राग रह्यौ लछमी को॥
यौं पन दोइ विगोइ दये नर, डारत क्यौं नरकै निज जी को।
आये हैं सेत अजौं शठ! चेत, गई सुगई अब राख रही को॥

हे मनुष्य! बचपन में तो तू हिताहित को समझता नहीं था, इसलिए तब अपने को नहीं सँभाल सका, किन्तु युवावस्था में भी या तो तेरे हृदय में स्त्री बसी रही या तुझे निरन्तर धन-लक्ष्मी जोड़ने की अभिलाषा बनी रही। और इस प्रकार तूने अपने दो महत्त्वपूर्ण पन यों ही बिगाड़ दिये हैं। पता नहीं क्यों तुम इसप्रकार अपने आपको नरक में डाल रहे हो? अब तो वृद्धावस्था आ गई है, अभी भी क्यों मूर्ख बने हो? अब तो चेतो! गई सो गई; पर जो शेष रही है, उसे तो रखो! अर्थात् कम से कम अब तो आत्मा का हित करने के लिए सचेत होओ!

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३०) [कवित्त मनहर]

सार नर देह सब कारज कौं जोग येह,
यह तौ विख्यात बात बेदन मैं बँचै है।
तामैं तरुनाई धर्मसेवन कौ समै भाई,
सेये तब विषै जैसें माखी मधु रचै है॥
मोहमदभोये धनरामाहित रोज रोये,
यौंही दिन खोये खाय कोदौं जिम मचै है।
अरे सुन बौरे! अब आये सीस धौरे अजौं,
सावधान हो रे नर नरक सौं बचै है॥

शास्त्रों में कही गई यह बात अत्यन्त प्रसिद्ध है कि मनुष्यदेह ही सर्वोत्तम है, यही समस्त अच्छे कार्यों के योग्य है; उसमें भी इसकी युवावस्था धर्मसेवन का सर्वश्रेष्ठ समय होता है; परन्तु हे भाई! ऐसे समय में तुम विषय-सेवन में इसप्रकार लिप्त रहे, मानों कोई मक्खी शहद में लिप्त हो, मोहरूपी मदिरा में डूबकर तुम निरन्तर कंचन और कामिनी के लिए अपार कष्ट सहते रहे। अमूल्य दिनों को तुमने व्यर्थ ही इसप्रकार खो दिया, मानो कोदों खाकर मत्त हो रहे हो। अरे नादान! सुनो, अब तो शिर में सफेद बाल उग आये हैं, अब तो सावधान होकर आत्मकल्याण कर लो, ताकि नरकादि कुगतियों से बच सको।

(३१) [मत्तगयन्द सवैया]

बाय लगी कि बलाय लगी, मदमत्त भयौ नर भूलत त्यों ही।
वृद्ध भये न भजै भगवान, विषै-विष खात अघात न क्यों ही॥
सीस भयौ बगुला सम सेत, रह्यो उर अन्तर श्याम अजौं ही।
मानुषभौ मुकताफलहार, गँवार तगा हित तोरत यौं ही॥

यह मनुष्य इसप्रकार मदोन्मत्त होकर सब-कुछ भूला हुआ है, मानों उसे कोई वातरोग हुआ हो अथवा प्रेतबाधा ने घेर रखा हो।

यद्यपि इसकी वृद्धावस्था आ गई है, परन्तु अभी भी यह आत्मा और परमात्मा की आराधना नहीं करता है और विषतुल्य विषय-भोगों का ही सेवन कर रहा है, जिनसे कि कभी भी तृप्ति मिलने वाली नहीं है।

सम्पूर्ण सिर बगुले की भाँति एकदम सफेद हो गया है, किन्तु इसका अन्तर्मन अभी भी काला हो रहा है। अत्यधिक वृद्धावस्था में भी इसने रागादि विकारों का त्याग नहीं किया है।

यह मनुष्य भव मोतियों का हार है, परन्तु अज्ञानी इसे मात्र धागे के लिए व्यर्थ ही तोड़े डाल रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३२)

संसारी जीव का चिंतवन [मत्तगयंद सवैया

चाहत है धन होय किसी विध, तौ सब काज सरैं जियरा जी ।
गेह चिनाय करूँ गहना कछु, ब्याहि सुता, सुत बाँटिये भाजी ।।
चिन्तत यौं दिन जाँहि चले, जम आनि अचानक देत दगा जी ।
खेलत खेल खिलारि गयैं, रहि जाइ रुपी शतरंज की बाजी ।।

संसारी प्राणी सोचता है कि यदि किसी तरह मेरे पास धन इकट्ठा हो जावे तो मेरे सारे काम सिद्ध हो जायँ और मेरा मन पूरी तरह प्रसन्न हो जावे । धन होने पर मैं एक अच्छा-सा मकान बनाऊँ, थोड़ा-बहुत गहना (आभूषण) तैयार कराऊँ, बेटी का विवाह कर दूँ और बेटों को अपना अपना हिस्सा बाँटकर दे दूँ ।

परन्तु इस प्रकार सोचते-सोचते ही सारा जीवन व्यतीत हो जाता है और अचानक यमराज हमला बोल देता है – शीघ्र मृत्यु आ जाती है ।

खिलाड़ी खेलते-खेलते ही चला जाता है और शतरंज की बाजी जहाँ की तहाँ जमी ही रह जाती है ।

(३३)

तेज तुरंग सुरंग भले रथ, मत्त मतंग उतंग खरे ही ।
दास खवास अवास अटा, धन जोर करोरन कोश भरे ही ।।
ऐसे बढ़े तो कहा भयौ हे नर! छोरि चले उठि अन्त छरे ही ।
धाम खरे रहे काम परे रहे, दाम गरे रहे ठाम धरे ही ।।

द्वार पर तीव्रगामी (स्वस्थ और फुर्तीले) घोड़े खड़े हो गये, सुन्दर सुन्दर रथ आ गये, ऊँचे-ऊँचे मस्त हाथी खड़े हो गये, नौकर-चाकर इकट्ठे हो गये, बड़े-बड़े भवन और अटारियाँ बन गईं, धन भी अनाप-शनाप इकट्ठा हो गया, कोषों के कोष भर गये – करोड़ों खजाने भर गये ।

परन्तु हे भाई ! ऐसी उन्नति से क्या होता है ? अन्तसमय तुम्हें सब यहीं छोड़कर अकेले ही चला जाना होगा । ये सारे भवन खड़े ही रह जायेंगे, काम पड़े ही रह जायेंगे, दाम गड़े ही रह जायेंगे; सब कुछ जहाँ का तहाँ धरा ही रह जाएगा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभिमान-निषेध (३४) [कवित्त मनहर]

कंचन-भँडार भरे मोतिनके पुंज परे, घने लोग द्वार खरे मारग निहारते।
जान चढ़ि डोलत हैं झीने सुर बोलत हैं, काहुकी हू ओर नेक नीके ना चितारते।।
कौलौं धन खांगे कोउ कहै यौं न लांगे, तेई, फिरें पाँय नांगे कांगे परपग झारते।
एते पै अयाने गरबाने रहैं विभौ पाय, धिक है समझ ऐसी धर्म ना सँभारते।।

जिनके यहाँ कंचन के भण्डार भरे हैं, बहुत से लोग रास्ता निहारते हुए दरवाजे पर खड़े रहते हैं, जो वाहनों पर चढ़कर घूमते हैं, झीनी आवाज में बोलते हैं, किसी की भी ओर जरा ठीक से देखते तक नहीं हैं, जिनके बारे में लोग कहते हैं कि इनके पास इतना धन है कि उसे ये न जाने कब तक खायेंगे, इनका धन तो ऐसे-वैसे कभी पूरा ही नहीं होने वाला है; वे ही (पापकर्म का उदय आने पर) नंगे पैरों फिरते रहते हैं, कंगाल होकर दूसरों के पैरों की सेवा करते फिरते हैं। अहो! ऐसी स्थिति होने पर भी अज्ञानी जीव वैभव पाकर अभिमान करते हैं। धिक्कार है उनकी उल्टी समझ को, जो कि वे धर्म नहीं सँभालते हैं।

(३५)

देखो भरजोबन मैं पुत्र को वियोग आयौ,
तैसैं ही निहारी निज नारी कालमग मैं।
जे जे पुन्यवान जीव दीसत है या मही पै,
रंक भये फिरैं तेऊ पनहीं न पग मैं।।
एते पै अभाग धनजीतब सौं धरै राग,
होय न विराग जानै रहूँगौं अलग मैं।
आँखिन विलोकि अंध सूसे की अँधेरी करै,
ऐसे राजरोग को इलाज कहा जग मैं।।

अहो! इस संसार में किसी को भरी जवानी में पुत्र का वियोग हो जाता है और साथ ही अपनी पत्नी भी मृत्यु के मार्ग में देखनी पड़ती है।

अच्छे-अच्छे पुण्यवान् जीव भी इस पृथ्वी पर रंक होकर भटकते-फिरते दिखाई देते हैं, उनके पाँवों में जूती तक नहीं रहती है।

अहो! ऐसी स्थिति होने पर भी अज्ञानी प्राणी धन और जीबन से राग करता है, उनसे विरक्त नहीं होता। सोचता है कि मैं तो अलग (सुरक्षित) रहूँगा – मेरे साथ ऐसा कुछ भी नहीं घटने वाला है।

अहो! आँखों से देखता हुआ भी उस खरगोश की तरह अन्धा (अज्ञानी) बन रहा है जो अपनी आँखें बन्द करके समझता है कि सब जगह अँधेरा हो गया है, मुझे कोई नहीं देख रहा है, मुझ पर अब कोई आपत्ति आने वाली नहीं है। अहो! इस महारोग का इलाज क्या है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३६)

[दोहा]

जैन वचन अंजनवटी, आँजैं सुगुरु प्रवीन।
रागतिमिर तोहु न मिटै, बड़ो रोग लख लीन ।।

अहो ! इस अज्ञानी की आँखों को प्रवीण गुरुवर जिनेन्द्रभगवान के वचनों रूपी काजल की गोलियों से साफ करते हैं, फिर भी इसका यह रागरूपी अन्धकार नहीं मिटता है। लगता है, इसका यह रोग बहुत बड़ा है।

(३७)

निजअवस्था-वर्णन [कवित्त मनहर]

जोई दिन कटै सोई आयु मैं अवसि घटै,
बूँद-बूँद बीतै जैसें अंजुली कौ जल है।
देह नित झीन होत, नैन-तेज हीन होत,
जोबन मलीन होत, छीन होत बल है ।।
आवै जरा नेरी, तकै अंतक-अहेरी, आवै-
परभौ नजीक, जात नरभौ निफल है।
मिलकै मिलापी जन पूँछत कुशल मेरी,
ऐसी दशा माहीं मित्र ! काहे की कुशल है ।।

हे मित्र ! मुझसे मेरे मिलने-जुलने वाले मेरी कुशलता के बारे में पूछते हैं; परन्तु तुम्हीं बताओ, कुशलता है कहाँ ? दशा तो ऐसी हो रही है :—

जिस प्रकार अंजुलि का जल जैसे-जैसे उसमें से बूँद गिरती जाती है वैसे-वैसे ही समाप्त होता जाता है; उसी प्रकार जैसे-जैसे दिन कटते जा हैं वैसे-वैसे ही आयु भी अवश्य घटती जा रही है, दिनों-दिन शरीर दुर्बल होता जा रहा है, आँखों की रोशनी कम होती जा रही है, युवावस्था बिगड़ती जा रही है, शक्ति क्षीण होती जा रही है, वृद्धावस्था पास आती जा रही है, मृत्युरूपी शिकारी इधर देखने लग गया है, परभव पास आता जा रहा है और मनुष्यभव व्यर्थ ही बीतता जा रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(३८)

बुढ़ापा [मत्तगयंद सवैया]

दृष्टि घटी पलटी तन की छबि, बंक भई गति लंक नई है।
रूस रही परनी घरनी अति, रंक भयौ परियंक लई है।।
काँपत नार बहै मुख लार, महामति संगति छाँरि गई है।
अंग उपंग पुराने परे, तिशना उर और नवीन भई है।।

अहो, वृद्धावस्था के कारण यद्यपि इस प्राणी की आँखों की रोशनी कमजोर हो गई है, शरीर की शोभा समाप्त हो गई है, चाल टेढ़ी हो गई है, कमर झुक गई है, ब्याहता पत्नी भी इससे अप्रसन्न हो गई है, यह बिल्कुल अनाथ हो गया है, चारपाई पकड़ रखी है, इसकी गर्दन काँपने लगी है, मुँह से लार बहने लगी है, बुद्धि इसका साथ छोड़कर चली गई है, और अंग-उपांग भी पुराने पड़ गये हैं; तथापि हृदय में तृष्णा और अधिक नवीन हो गई है।

(३९)

[कवित्त मनहर]

रूप कौ न खोज रह्यौ तरु ज्यौं तुषार दह्यौ,
भयौ पतझार किधौं रही डार सूनी-सी।
कूबरी भई है कटि दूबरी भई है देह,
ऊबरी इतेक आयु सेर मांहि पूनी-सी।।
जोबन नैं विदा लीनी जरा नैं जुहार कीनी,
हीनी भई सुधि बुधि सबै बात ऊनीसी।
तेज घट्यौ ताव घट्यौ जीतब को चाव घट्यौ,
और सब घट्यौ एक तिस्ना दिन दूनी-सी।।

वृद्धावस्था के कारण अब शरीर में सुन्दरता का नामोनिशान भी नहीं रहा है; शरीर ऐसा हो गया है मानों कोई वृक्ष बर्फ से जल गया हो, अथवा मानों पतझड़ होकर कोई डाल सूनी हो गई हो; कमर में कूब निकल आई है, देह दुर्बल हो गई है, आयु इतनी अल्प रह गई है मानों एक किलो रूई में से एक पूनी, युवावस्था ने अब विदाई ले ली है और वृद्धावस्था ने आकर जुहार कर ली है, सारी सुधि-बुधि कम हो गई है, सभी बातें उन्नीसी रह गई हैं, तेज भी घट गया है, ताव (उत्साह) भी घट गया है, जीने का चाव (अभिलाषा) भी घट गया है, सब घट गया है; किन्तु एकमात्र तृष्णा ही ऐसी है जो दिन-प्रतिदिन दूनी होती जा रही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४०) अहो इन आपने अभाग उदै नाहिं जानी,
वीतराग-वानी सार दयारस-भीनी है।
जोबन के जोर थिर-जंगम अनेक जीव,
जानि जे सताये कछु करुना न कीनी है ।।
तेई अब जीवराश आये परलोकपास,
लेंगे बैर देंगे दुख भई ना नवीनी है।
उनही के भय कौ भरोसौ जान काँपत है,
याही डर डोकरा ने लाठी हाथ लीनी है ।।

अहो ! इस जीव ने युवावस्था में अपने अशुभकर्म के उदय के कारण निश्चय दयारस से भरी हुई वीतराग-वाणी को नहीं समझा और जवानी के जोर में अनेक त्रस-स्थावर जीवों को निर्दयतापूर्वक बहुत सताया, उनके प्रति किंचित् भी दया नहीं की, अतः अब वृद्धावस्था में वे सभी प्राणी, जिनको इसने युवावस्था में सताया था, इकट्ठे होकर मानों इससे बदला लेने के लिए आवेंगे । पहले इसने उन्हें दुःख दिया था सो अब वे इसे दुःख देंगे – यह निश्चित बात है, कोई नई बात नहीं । यही कारण है कि यह वृद्ध उनसे डर कर काँपने लगा है और इसी डर से इसने अपने हाथ में लाठी ले ली है ।

(४१) जाकौं इन्द्र चाहैं अहमिंद्र से उमाहैं जासौं,
जीव मुक्ति-माहैं जाय भौ-मल बहावै है।
ऐसौ नरजन्म पाय विषै-विष खाय खोयौ,
जैसैं काच साँटैं मूढ़ मानक गमावै है ।।
मायानदी बूड़ भींजा कायाबल तेज छीजा,
आया पन तीजा अब कहा बनि आवै है।
तातैं निज सीस ढोलै नीचे नैन किये डोलै,
कहा बढ़ि बोलै वृद्ध वदन दुरावै है ।।

जिसे इन्द्र और अहमिन्द्र भी उत्साहपूर्वक चाहते हैं, जिसे धारण कर जीव मोक्ष में चला जाता है और सर्व सांसारिक मलिनता को दूर कर देता है, ऐसे नर-जन्म को पाकर भी इस अज्ञानी वृद्ध ने विषय-विष खाकर उसे ऐसे खो दिया है, मानों कोई मूर्ख कांच के बदले माणिक खो देता है।

अब तो मायानदी मे डूबकर यह इतना भीग गया है कि इसके शरीर का सारा बल और तेज क्षीण हो गया है, तीसरा पन आ गया है, अतः ऐसे में हो ही क्या हो सकता है ? यही कारण है कि यह वृद्ध अपना सिर हिलाता हुआ नीची दृष्टि किये डोलता रहता है। अब बढ़-बढ़कर क्या बोले ? इसीलिए मुँह छुपाये रहता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४२) [मत्तगयंद सवैया]

देखहु जोर जरा भट कौ, जमराज महीपति कौ अगवानी।
उज्जल केश निशान धरैं, बहु रोगन की सँग फौज पलानी॥
कायपुरी तजि भाजि चल्यौ जिहि, आवत जोबनभूप गुमानी।
लूट लई नगरी सगरी, दिन दोय मैं खोयहै नाम निशानी॥

इस बुढ़ापे रूपी योद्धा का जोर तो देखिये ! यह यमराजरूपी (मृत्युरूपी) राजा के आगमन की सूचना है, सफेद बाल इसका चिह्न है, ढेरों रोगों की सेना इसके साथ चल रही है, यौवनरूपी अभिमानी राजा इसे आता हुआ देखकर अपनी कायारूपी नगरी को छोड़कर भाग छूटा है, इस बुढ़ापेरूपी योद्धा ने सारी कायारूपी नगरी लूट ली है और अब कुछ ही समय में यह उसकी नामनिशानी ही मिटा देगा।

(४३) [दोहा]

सुमतिहिं तजि जोबन समय, सेवहु विषय विकार।
खलसाँटैं नहिं खोइये, जनमजवाहिर सार॥

युवावस्था में सुमति का परित्याग कर विषय-विकारों का सेवन करने वाले हे भाई ! तुम ऐसा करके निःसार खली के बदले मनुष्यभवरूपी सारभूत और अमूल्य रत्न को मत खोओ।

कर्त्तव्य-शिक्षा (४४) [कवित्त मनहर]

देव-गुरु साँचे मान साँचौ धर्म हिये आन,
साँचौ ही बखान सुनि साँचे पंथ आव रे।
जीवन की दया पाल झूठ तजि चोरी टाल,
देख ना विरानी बाल तिसना घटाव रे॥
अपनी बड़ाई परनिंदा मत करै भाई,
यही चतुराई मद मांस कौं बचाव रे।
साध खटकर्म साध-संगति में बैठ वीर,
जो है धर्मसाधन कौ तेरे चित चाव रे॥

हे भाई ! यदि तेरे हृदय में धर्मसाधन की अभिलाषा है तो तू सच्चे देव-गुरु की श्रद्धा कर ! सच्चे धर्म को हृदय में धारण कर ! सच्चे शास्त्र सुन ! सच्चे मार्ग पर चल ! जीवों की दया पाल ! झूठ का त्याग कर ! चोरी का त्याग कर ! पराई स्त्री को बुरी नजर से मत देख ! तृष्णा कम कर ! और इसी में तेरी चतुराई है कि तू अपनी बढ़ाई और दूसरों की निन्दा मत कर ! मद्य और मांस से बचकर रह ! देवपूजा आदि षट् आवश्यक कर्मों का पालन कर ! सज्जनों की संगति में बैठा कर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४५)

साँचौ देव सोई जामैं दोष कौ न लेश कोई,
वहै गुरु जाकैं उर काहु की न चाह है।
सही धर्म वही जहाँ करुना प्रधान कही,
ग्रन्थ जहाँ आदि अन्त एक-सौ निबाह है।।
ये ही जग रत्न चार इनकौं परख यार,
साँचे लेहु झूठे डार नरभौ कौ लाह है।
मानुष विवेक विना पशु के समान गिना,
तातैं याहि बात ठीक पारनी सलाह है।।

सच्चा देव वही है जिसमें किंचित् भी दोष (क्षुधादि अठारह) न हो, सच्चा गुरु वही है जिसके हृदय में किसी प्रकार की इच्छा नहीं हो, सच्चा धर्म वही है जिसमें दया की प्रधानता हो, सच्चा शास्त्र वही है जिसमें आदि से अन्त तक एकरूपता का निर्वाह हो अर्थात् जो पूर्वापरविरोध से रहित हो। हे मित्र ! इस जगत् में वस्तुतः ये चार ही रत्न हैं :– देव, गुरु, शास्त्र और धर्म; अतः तू इनकी परीक्षा कर और पश्चात् सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और धर्म को ग्रहण कर तथा झूठे देव, गुरु, शास्त्र और धर्म का त्याग कर ! इसी में मनुष्यभव की सार्थकता है।

मनुष्य विवेक-बिना पशु के समान माना गया है, अतः उक्त विवेक-संगत बात ही भवसागर से पार उतारने वाली उचित सलाह है।

सच्चे देव का लक्षण (४६) [छप्पय]

जो जगवस्तु समस्त, हस्ततल जेम निहारै।
जगजन को संसार, -सिंधु के पार उतारै।।
आदि-अन्त-अविरोधि, वचन सबको सुखदानी।
गुन अनन्त जिहँ माँहि, दोष की नाँहि निशानी।।
माधव महेश ब्रह्मा किधौं, वर्धमान कै बुद्ध यह।
ये चिहन जान जाके चरन, नमो-नमो मुझ देव वह।।

जो जगत् की समस्त वस्तुओं को हथेली (हाथ की रेखाओं) के समान प्रत्यक्ष या स्पष्ट रूप से जानता हो, संसारी प्राणियों को संसार-सागर से पार उतारता हो, जिसके वचन पूर्वापर-विरोध-रहित एवं प्राणि-मात्र के हितकारक हों और जिसमें अनन्त गुण हों, क्षुधादि अठारह दोष किंचित् भी न हो; वही सच्चा देव है। फिर चाहे वह नाम से माधव हो, महेश हो, ब्रह्मा हो, वर्द्धमान हो या बुद्ध हो; मैं तो जिसमें उक्त सर्वज्ञता, हितोपदेशिता और वीतरागता – ये गुण पाये जाते हों, उस देव को बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यज्ञ में हिंसा का निषेध (४७) [कवित्त मनहर]

कहै पशु दीन सुन यज्ञ के करैया मोहि
होमत हुताशन मैं कौन सी बड़ाई है।
स्वर्गसुख मैं न चहौं 'देहु मुझे' यौं न कहौं,
घास खाय रहौं मेरे यही मनभाई है।।
जो तू यह जानत है वेद यौं बखानत है,
जग्य जलौ जीव पावै स्वर्ग सुखदाई है।
डारे क्यों न वीर यामैं अपने कुटुम्ब ही कौं ?
मोही जनि जारे जगदीश की दुहाई है।।

यज्ञ में बलि के लिए प्रस्तुत असहाय पशु पूछता है कि हे यज्ञ करने वाले! मुझे अग्नि में होम देने में तुम्हारी क्या बढ़ाई है? अथवा इसमें तुम्हें क्या लाभ है?

सुनो! मुझे कोई स्वर्गसुख नहीं चाहिए और न ही मैं तुमसे उसे माँगता हूँ, अथवा "मुझे कुछ दो"–ऐसा भी मैं तुमसे नहीं कहता हूँ। म तो बस घास खाकर रहता हूँ, इससे अधिक मेरी कोई अभिलाषा नहीं है।

और हे वीर पुरुष! जो तुम ऐसा समझते हो कि यज्ञ में बलि के रूप में होम दिया जाने वाला जीव वेदानुसार सुखदायक स्वर्ग प्राप्त करता है, तो तुम इस यज्ञाग्नि में अपने कुटुम्ब को ही क्यों नहीं डालते हो? मुझे तो मत जलाओ, तुम्हें भगवान की सौगंध है।

सातों वार गर्भित षट्कर्मोपदेश (४८) [छप्पय]

अघ-अँधेर-आदित्य नित्य स्वाध्याय करिज्जै।
सोमोपम संसारतापहर तप कर लिज्जै।।
जिनवरपूजा नियम करहु, नित मंगलदायनि।
बुध संजम आदरहु, धरहु चित श्रीगुरु-पांयनि।।
निजवित समान अभिमान विन, सुकर सुपत्तहिं दान कर।
यौं सनि सुधर्म षटकर्म भनि, नरभौ-लाहौ लेहु नर।।

प्रतिदिन, पापरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए जो सूर्य के समान है – ऐसा स्वाध्याय कीजिये, संसाररूपी ताप को हरने के लिये जो चन्द्रमा के समान है – ऐसा तप कीजिए, नित्य जिनवरपूजा कीजिये, विवेक सहित संयम का आदर कीजिये, श्रीगुरु-चरणों की उपासना कीजिये, अपनी शक्ति-अनुसार, अभिमान-रहित होकर अपने हाथों से दान दीजिये।

इस प्रकार हे मनुष्य! षट् आवश्यक कार्यों में संलग्न होकर मनुष्य भव का लाभ लीजिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४९)

[दोहा]

ये ही छह विधि कर्म भज, सात विसन तज वीर।
इस ही पैंडे पहुँचिहै, क्रम क्रम भवजल-तीर ॥

हे भाई ! (छन्द-संख्या ४८ में कहे गये) षट् आवश्यक कर्मों का पालन करो और (छन्द-संख्या ५० में बताये जानेवाले) सप्त व्यसनों का त्याग करो। तुम इसी तरह क्रम-क्रम से संसार-सागर का किनारा प्राप्त कर लोगे।

(५०)

सप्त व्यसन

जूआखेलन मांस मद, वेश्याविसन शिकार।
चोरी पर-रमनी-रमन, सातौं पाप निवार ॥

जुआ खेलना, मांसभक्षण, मद्यपान, वेश्यासेवन, शिकार, चोरी और परनारी-रमण – ये सात व्यसन हैं, जो पापरूप हैं और दूर करने लायक हैं। हमें इन्हें दूर करना चाहिए।

(५१)

जुआ-निषेध [छप्पय]

सकल-पापसंकेत, आपदाहेत कुलच्छन।
कलहखेत दारिद्र देत, दीसत निज अच्छन ॥
गुनसमेत जस सेत, केत रवि रोकत जैसैं।
औगुन-निकर-निकेत, लेत लखि बुधजन ऐसैं ॥
जूआ समान इह लोक में, आन अनीति न पेखिये।
इस विसनराय के खेल कौ, कौतुक हू नहिं देखिये ॥

जुआ नामक प्रथम व्यसन प्रत्यक्ष ही अपनी आँखों से अनेक दोषों से युक्त दिखाई देता है। वह सम्पूर्ण पापों को आमंत्रित करने वाला है, आपत्तियों का कारण है, खोटा लक्षण है, कलह का स्थान है, दरिद्र बना देने वाला है, अनेक अच्छाइयाँ करके प्राप्त किये हुए उज्ज्वल यश को भी उसीप्रकार ढँक देने वाला है, जिसप्रकार केतु सूर्य को ढँकता है, ज्ञानी पुरुष इसे अवगुणसमूह के घर के रूप में देखते हैं, इस दुनियाँ में जुआ के समान अन्य कोई अनीति नहीं दिखाई देती। इस व्यसनराज के खेल को कौतुहल मात्र के लिए भी कभी नहीं देखना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(५२)

मांसभक्षण-निषेध [छप्पय]

जंगम जिय कौ नास, होय तब मांस कहावै ।
सपरस आकृति नाम, गन्ध उर घिन उपजावै ।।
नरकजोग निरदई, खाहिं नर नीच अधरमी ।
नाम लेत तज देत, असन उत्तमकुलकरमी ।।
यह निपटनिंद्य अपवित्र अति, कृमिकुल-रास-निवास नित ।
आमिष अभच्छ यातैं सदा, बरजौ दोष दयालचित ।।

मांस की प्राप्ति त्रस जीवों का घात होने पर ही होती है । मांस का स्पर्श, आकार, नाम और गन्ध – सभी हृदय में ग्लानि उत्पन्न करते हैं । मांस का भक्षण नरक जाने की योग्यतावाले निर्दयी, नीच और अधर्मी पुरुष करते हैं; उत्तम कुल और कर्म वाले तो इसका नाम लेते ही अपना शुद्ध सात्त्विक भोजन तक छोड़ देते हैं । मांस अत्यन्त निन्दनीय है, अत्यन्त अपवित्र है और सदैव जीवसमूह का निवास स्थान है । यही कारण है कि मांस सदैव अभक्ष्य बतलाया गया है । हे दयालु चित्त वाले ! तुम इस मांस-भक्षण रूप दोष का त्याग करो ।

(५३)

मदिरापान-निषेध [दुर्मिल सवैया]

कृमिरास कुवास सराय दहैं, शुचिता सब छीवत जात सही ।
जिहिं पान कियैं सुधि जात हियैं, जननीजन जानत नारि यही ।।
मदिरा सम आन निषिद्ध कहा, यह जान भले कुल मैं न गही ।
धिक है उनकौं वह जीभ जलौ, जिन मूढ़न के मत लीन कही ।।

मदिरा जीवसमूहों का ढेर है, वह दुर्गन्धयुक्त वस्तुओं को सड़ाकर और जलाकर तैयार की जाती है । निश्चय ही उसके स्पर्श करने मात्र से व्यक्ति की सारी पवित्रता नष्ट हो जाती है और उसे पी लेने पर तो सारी सुध-बुध ही हृदय से जाती रहती है, मदिरा पीनेवाला माता आदि को भी पत्नी समझने लगता है । इस दुनिया में मदिरा के समान त्याज्य वस्तु अन्य कोई नहीं है, इसीलिए मदिरा उत्तम कुलों में ग्रहण नहीं की जाती है ।

तथापि जो मूर्ख मदिरा की प्रशंसा करते हैं; उन्हें धिक्कार है, उनकी जीभ जल जावे ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(५४)

वेश्यासेवन-निषेध

धनकारन पापनि प्रीति करै, नहिं तोरत नेह जथा तिनकौ।
लव चाखत नीचन के मुँह की, शुचिता सब जाय छियैं जिनकौ॥
मद मांस बजारनि खाय सदा, अँधले विसनी न करैं घिन कौं।
गनिका सँग जे शठ लीन भये, धिक है! धिक है! धिक है! तिनकौं॥

पापिनी वेश्या धन के लिए प्रेम करती है। यदि व्यक्ति के पास धन नहीं बचे तो सारा प्रेम ऐसे तोड़ फेंकती है जैसे तिनका।

वेश्या अधम व्यक्तियों के होठों का चुम्बन करती है अथवा उनके मुँह से निःसृत लार आदि अपवित्र वस्तुओं का स्वाद लेती है। सम्पूर्ण शुचिता वेश्या के छूने से समाप्त हो जाती है।

वेश्या सदा बाजारों में मांस-मदिरा खाती-पीती फिरती है। वेश्या-व्यसन से घृणा वे ही नहीं करते जो व्यसनों में अंधे हो रहे हैं।

जो मूर्ख व्यक्ति वेश्याव्यसन में लीन हैं, उन्हें बारम्बार धिक्कार है।

आखेट-निषेध

(५५)

[कवित्त मनहर]

कानन मैं बसै ऐसौ आन न गरीब जीव,
प्रानन सौं प्यारौ प्रान पूँजी जिस यहै है।
कायर सुभाव धरै काहू सौं न द्रोह करे,
सबही सौं डरै दाँत लियैं तृन रहै हैं॥
काहू सौं न दोष पुनि काहू पै न पोष चहै,
काहू के परोष परदोष नाहिं कहै है।
नेकु स्वाद सारिवे कौं ऐसे मृग मारिवे कौं,
हा हा रे कठोर तेरौ कैसैं कर वहै है॥

जंगल में रहता है, अत्यन्त गरीब है, अपने प्राण ही उसकी प्राणों से प्यारी पूँजी है, डरपोक स्वभाव वाला है, सभी से डरता रहता है, किसी से द्रोह नहीं करता, कभी किसी का बुरा नहीं सोचता, बेचारा अपने दाँतों में तिनका लिये रहता है, किसी पर नाराज नहीं होता, किसी से अपने पालन-पोषण की अपेक्षा नहीं रखता, परोक्ष में किसी के दोष नहीं कहता फिरता अर्थात् पीठ पीछे परनिन्दा करने का दुर्गुण भी उसमें नहीं है।

फिर भी रे रे कठोर हृदय! अपने जरा से स्वाद के लिए उस मृग को मारने के लिए तेरा हाथ उठता कैसे है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चोरी-निषेध (५६) [छप्पय]

चिंता तजै न चोर, रहत चौंकायत सारै।
पीटै धनी विलोक, लोक निर्दइ मिलि मारै।।
प्रजापाल करि कोप, तोप सौं रोप उड़ावै।
मरै महादुख पेखि, अंत नीची गति पावै।।
अति विपतिमूल चोरीविसन, प्रगट त्रास आवै नजर।
परवित अदत्त अंगार गिन, नीतिनिपुन परसैं न कर।।

चोर कभी भी और कहीं भी निश्चित नहीं होता, हमेशा और हर जगह चौकन्ना रहता है। देख लेने पर स्वामी (चोरी की गई वस्तु का मालिक) उसकी पिटाई करता है। अन्य अनेक निर्दयी व्यक्ति भी उसे मिल कर मारते हैं। राजा भी क्रोध करके उसे तोप के सामने खड़ा करके उड़ा देता है। चोर बहुत दुःख भोगकर मरता है और परभव में भी उसे अधोगति प्राप्त होती है। चोरी नामक व्यसन अनेक विपत्तियों की जड़ है। चोरी में प्रत्यक्ष ही बहुत दुःख दिखाई देता है। समझदार व्यक्ति तो दूसरे के अदत्त (बिना दिये हुए) धन को अंगारे के समान समझकर कभी अपने हाथ से छूते भी नहीं।

परस्त्रीसेवन-निषेध (५७) [छप्पय]

कुगति-वहन गुनगहन-दहन दावानल-सी है।
सुजसचंद्र-घनघटा, देहकृशकरन खई है।।
धनसर-सोखन धूप, धरमदिन-साँझ समानी।
विपतिभुजंग-निवास, बांबई वेद बखानी।।
इहि विधि अनेक औगुन भरी, प्रानहरन फाँसी प्रबल।
मत करहु मित्र! यह जान जिय, परवनिता सौं प्रीति पल।।

परनारी-सेवन खोटी गति में ले जाने के लिए वाहन है, गुणसमूह को जलाने के लिए भयानक आग है, उज्ज्वल यशरूपी चन्द्रमा को ढँकने के लिए बादलों की घटा है, शरीर को कमजोर करने के लिए क्षयरोग (टी. बी.) है, धनरूपी सरोवर को सुखाने के लिए धूप है, धर्मरूपी दिन का अस्त करने के लिए सन्ध्या है और विपत्तिरूपी सर्पों के निवास के लिए बाँबी है। शास्त्रों में परनारी-सेवन को इसी प्रकार के अन्य भी अनेक दुर्गुणों से भरा हुआ कहा गया है। वह प्राणों को हरने के लिए प्रबल फाँसी है।

ऐसा हृदय में जानकर हे मित्र! तुम कभी पल भर भी परस्त्री से प्रेम मत करो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परस्त्रीत्याग-प्रशंसा (५८) [दुर्मिल सवैया]

दिवि दीपक-लोय बनी वनिता, जड़जीव पतंग जहाँ परते।
दुख पावत प्रान गवाँवत है, बरजे न रहैं हठ सौं जरते।।
इहि भाँति विचच्छन अच्छन के वश, होय अनीति नहीं करते।
परतिय लखि जे धरती निरखैं, धनि हैं धनि हैं धनि हैं नर ते।।

परनारी एक ऐसी प्रकाशमान दीपक की लौ है जिस पर मूर्ख प्राणी रूपी पतगें गिरते हैं, दुःख पाते हैं और जलकर प्राण गँवा देते हैं; रोकने और समझाने पर भी नहीं मानते, हठपूर्वक जलते ही हैं। विवेकी पुरुष इन्द्रियों के वश होकर ऐसा अनुचित कार्य नहीं करते।

अहो! जो व्यक्ति परनारी को देखकर अपनी नजर धरती की ओर नीची कर लेते हैं; वे धन्य हैं, धन्य हैं, धन्य हैं।

(५९)

दिढ़ शील शिरोमन कारज मैं, जग मैं जस आरज तेइ लहैं।
तिनके जुग लोचन वारिज हैं, इहि भाँति अचारज आप कहैं।।
परकामिनी कौ मुखचन्द चितैं, मुँद जाँहि सदा यह टेव गहैं।
धनि जीवन है तिन जीवन कौ, धनि माय उनैं उरमांय वहैं।।

जो व्यक्ति शीलरूपी सर्वोत्तम कार्य में दृढ़तापूर्वक लगे हैं। वे ही आर्य पुरुष हैं—श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे ही जगत् में यश प्राप्त करते हैं।

आचार्य कहते हैं कि ऐसे ही व्यक्तियों की आँखें वास्तव में कमल की उपमा देने लायक हैं, क्योंकि वे परस्त्री के मुखरूपी चन्द्रमा को देखकर सदा मुँद जाने की आदत ग्रहण किये हुए हैं।

धन्य है ऐसे व्यक्तियों का जीवन तथा धन्य हैं उनकी मातायें जो ऐसे आर्यपुरुषों को अपने पेट में धारण करती हैं।

कुशील-निन्दा (६०) [मत्तगयन्द सवैया]

जे परनारि निहारि निलज्ज, हँसैं विगसैं बुधिहीन बड़ेरे।
जूँठन की जिमि पातर पेखि, खुशी उर कूकर होत घनेरे।।
है जिनकी यह टेव वहै, तिनकौं इस भौ अपकीरति है रे।
ह्वै परलोक विषैं दृढ़दण्ड, करै शतखण्ड सुखाचल केरे।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो व्यक्ति परस्त्री को देखकर निर्लज्जतापूर्वक हँसते हैं, खिल उठते हैं – प्रसन्न होते हैं, वे बड़े बुद्धिहीन (बेवकूफ) हैं। परस्त्री को देखकर उनका प्रसन्न होना ऐसा है, मानों झूँठन की पत्तल देखकर कुत्ता अपने मन में बहुत प्रसन्न हो रहा हो।

जिन व्यक्तियों की ऐसी (परस्त्री को देखकर निर्लज्जतापूर्वक हँसने और प्रसन्न होने की) खोटी आदत पड़ गई है, उनकी इस भव में बदनामी होती है और परभव में भी कठोर दण्ड मिलता है, जो उनके सुखरूपी पर्वत के टुकड़े-टुकड़े कर डालता है अर्थात् समस्त सुख-शांति का विनाश कर देता है।

(६१)

एक एक व्यसन का सेवन करने वालों के नाम व फल [छप्पय]

प्रथम पांडवा भूप, खेलि जूआ सब खोयौ।
मांस खाय बक राय, पाय विपदा बहु रोयौ ।।
विन जानैं मदपानजोंग, जादौंगन दज्झे।
चारुदत्त दुख सह्यौ, वेसवा-विसन अरुज्झे ।।
नृप ब्रह्मदत्त आखेट सौं, द्विज शिवभूति अदत्तरति।
पर-रमनि राचि रावन गयौ, सातौं सेवत कौन गति ।।

पांडवों के राजा युधिष्ठिर ने जुआ नामक प्रथम व्यसन के सेवन से सब कुछ खो दिया, राजा बक ने मांस खाकर बहुत कष्ट उठाये, यादव बिना जानें-पूछे मद्यपान कर जल मरे, चारुदत्त ने वेश्याव्यसन में फँसकर बहुत दुःख भोगे, राजा ब्रह्मदत्त (चक्रवर्ती) शिकार के कारण नरक गया, चोरी के कारण – घरोहर हज्म कर लेने के कारण श्रीभूति ब्राह्मण संसार में रुलता रहा और रावण परस्त्री में आसक्त होकर नरक गया।

अहो ! जब एक-एक व्यसन का सेवन करने वालों की ही यह दुर्दशा हुई, तो जो सातों का सेवन करते हैं उनकी क्या दुर्दशा होती होगी ?

(६२) [दोहा]

पाप नाम नरपति करैं, नरक नगर मैं राज।
तिन पठये पायक विसन, निजपुर वसती काज ।।

एक पाप नाम का राजा है जो नरकरूपी नगर में राज्य करता है। और उसी ने अपने नगर की समृद्धि के लिए इस लोक में व्यसनरूपी अपने सिपाही छोड़ रखे हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(६३)

जिनकैं जिन के वचन की, बसी हिये परतीत।
विसनप्रीति ते नर तजौ, नरकवास भयभीत।।

अतः जो नरक-वास से भयभीत हों और जिनके हृदय में जिनेन्द्र भगवान के वचनों की प्रतीति हुई हो, वे पुरुष इन व्यसनों के प्रति अनुराग का भी त्याग करो।

कुकवि-निन्दा (६४) [मत्तगयन्द सवैया]

राग उदै जग अंध भयौ, सहजै सब लोगन लाज गवाँई।
सीख बिना नर सीख रहे, विसनादिक सेवन की सुघराई।।
ता पर और रचैं रसकाव्य, कहा कहिये तिनकी निठुराई।
अंध असूझन की अँखियान मैं, झोंकत हैं रज रामदुहाई।।

रागभाव (मिथ्यात्व) के उदय के कारण यह दुनिया वैसे ही इतनी अंधी हो रही है कि सब लोग अपनी सारी मान-मर्यादायें खोये बैठे हैं। व्यक्ति बिना ही सिखाये व्यसनादि-सेवन में कुशलता प्राप्त कर रहे हैं।

ऊपर से, जो कुकवि उन्हीं व्यसनादि के पोषण करने वाले काव्यों की रचना और करते हैं, उनकी निष्ठुरता का क्या कहना? वे सभी बड़े निर्दयी हैं। भगवान-कसम, वे कुकवि, जो लोग अंधे हैं – जिन्हें कुछ नहीं दिखता, उनकी आँखों में धूल झोंक रहे हैं।

(६५)

कंचन कुम्भन की उपमा, कह देत उरोजन को कवि बारे।
ऊपर श्याम विलोकत कै, मनिनीलम की ढकनी ढँकि छारे।।
यौं सत वैन कहैं न कुपंडित, ये जुग आमिषपिंड उघारे।
साधन झार दई मुँह छार, भये इहि हेत किधौं कुच कारे।।

बालकवि (कुकवि) नारियों के स्तनों को स्वर्णकलश और स्तनों के अग्रभाग को कालिमा के कारण नीलमणि के ढक्कन की उपमा देते हैं। कहते हैं कि नारियों के स्तन नीलमणि के ढक्कन से ढके हुए स्वर्ण-कलश हैं। जबकि वस्तुस्थिति यह नहीं है। अज्ञानी कवि सही-सही बात नहीं कहते हैं। सही बात तो यह है कि नारियों के स्तन स्पष्टतया दो मांसपिण्ड हैं, जिनके मुँह में साधुपुरुषों ने राख भर दी है (अर्थात् इनकी अत्यन्त उपेक्षा कर दी है), इसी वजह से इनका अग्रभाग काला हो गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(६६)

ए विधि ! भूल भई तुमतैं, समुझे न कहाँ कसतूरि बनाई ।
दीन कुरंगन के तन मैं, तृन दंत धरैं करुना किन आई ।।
क्यौं न करी तिन जीभन जे, रसकाव्य करैं पर कौं दुखदाई ।
साधु-अनुग्रह दुर्जन-दण्ड, दोउ सधते विसरी चतुराई ।।

हे विधाता ! तुमसे भूल हो गई । तुम नहीं समझ पाये कि कस्तूरी कहाँ बनाना चाहिए और तुमने बेचारे उन असहाय हिरणों के शरीर में कस्तूरी बना दी जो कि अपने दाँतों में घास-तृण लिये रहते हैं । इन हिरणों पर किसे दया आती है ?

हे विधाता ! तुमने यह कस्तूरी उनकी जीभ पर क्यों नहीं बनाई जो जगत् का अहित करने वाली काव्यरचना करते हैं ? ऐसा करने से सज्जनों पर कृपा भी हो जाती और दुर्जनों को दण्ड भी मिल जाता, दोनों ही प्रयोजन सिद्ध हो जाते ।

पर क्या बतायें, तुम तो अपनी सारी चतुराई भूल गये ।

मन-रूपी हाथी (६७) [छप्पय]

ज्ञानमहावत डारि, सुमतिसंकल गहि खंडै ।
गुरु-अंकुश नहिं गिनै, ब्रह्मव्रत-विरख विहंडै ।।
कर सिधंत-सर न्हौन, केलि अघ-रज सौं ठानै ।
करन-चपलता धरै, कुमति-करनी रति मानै ।।
डोलत सुछन्द मदमत्त अति, गुण-पथिक न आवत उरै ।
वैराग्य-खंभ तैं बाँध नर, मन-मतंग विचरत बुरै ।।

हे मनुष्य ! तुम्हारा मनरूपी हाथी बुरी तरह विचरण कर रहा है, तुम इसे वैराग्यरूपी स्तंभ से बाँधो ।

इस मनरूपी हाथी ने ज्ञानरूपी महावत को गिरा दिया है, सुमति-रूपी साँकल के टुकड़े-टुकड़े कर दिये हैं, गुरुवचनरूपी अंकुश की उपेक्षा कर रखी है और ब्रह्मचर्यरूपी वृक्ष को उखाड़ फेंका है ।

यह मनरूपी हाथी सिद्धान्त (शास्त्र) रूपी सरोवर में स्नान करके भी पापरूपी धूल से खेल रहा है, अपने इन्द्रियरूपी कानों को चपलतापूर्वक बारंबार हिला रहा है और कुमतिरूपी हथिनी के साथ रतिक्रीड़ा कर रहा है । यह मनरूपी हाथी अत्यधिक मदोन्मत्त होता हुआ स्वच्छंदतापूर्वक घूम रहा है, गुणरूपी राहगीर इसके पास तक नहीं आते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुरु-उपकार (६८) [कवित्त मनहर]

ढई-सी सराय काय पंथी जीव वस्यौ आय,
रत्नत्रय निधि जापै मोख जाकौ घर है।
मिथ्या निशि कारी जहाँ मोह अन्धकार भारी,
कामादिक तस्कर समूहन को थर है।।
सोवै जो अचेत सोई खोवै निज संपदा कौं,
तहाँ गुरु पाहरु पुकारैं दया कर है।
गाफिल न हूजै भ्रात ! ऐसी है अँधेरी रात,
जाग रे बटोही ! इहाँ चोरन कौ डर है।।

हे भाई ! यह शरीर ढह जाने वाली धर्मशाला के समान है। इसमें एक जीवरूपी राहगीर आकर ठहरा हुआ है। उसके पास रत्नत्रयरूपी पूँजी है और मोक्ष उसका घर है।

यात्रा के इस पड़ाव पर मिथ्यात्वरूपी काली रात है, मोहरूपी घोर अन्धकार है और काम-क्रोध आदि लुटेरों के झुण्डों का निवास है।

यहाँ जो अचेत होकर सोता है, वह अपनी संपत्ति खो बैठता है। अतः हे भाई ! गाफिल मत होओ, रात बड़ी डरावनी है। गुरुरूपी पहरेदार भी दया करके आवाज लगा रहे हैं कि हे राहगीर ! जागते रहो, यहाँ चोरों का डर है।

कषाय जीतने का उपाय (६९) [मत्तगयंद सवैया]

छेमनिवास छिमा धुवनी विन, क्रोध पिशाच उरै न टरैगौ।
कोमलभाव उपाव विना, यह मान महामद कौन हरैगौ।।
आर्जव-सार कुठार विना, छलबेल निकंदन कौन करैगौ।
तोषशिरोमनि मन्त्र पढ़े विन, लोभ फणी विष क्यौं उतरैगौ।।

क्रोधरूपी पिशाच, जिसमें कुशलता निवास करती है ऐसी क्षमा की धूनी दिये बिना दूर नहीं हटेगा, मानरूपी प्रबल मदिरा कोमलभाव के बिना नहीं उतरेगी, छलरूपी बेल आर्जवरूपी तीक्ष्ण कुल्हाड़ी के बिना नहीं कटेगी और लोभरूपी विषैले सर्प का जहर सन्तोषरूपी महामन्त्र के जाप बिना नहीं उतरेगा।

तात्पर्य यह है कि क्रोध, मान, माया और लोभ रूप कषायों का अभाव करने का एक मात्र उपाय उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव और उत्तम शौच रूप आत्मधर्म ही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिष्ट वचन (७०)

काहे को बोलत बोल बुरे नर ! नाहक क्यौं जस-धर्म गमावै ।
कोमल वैन चवै किन ऐन, लगै कछु है न सबै मन भावै ।।
तालु छिदै रसना न भिदै, न घटै कछु अंक दरिद्र न आवै ।
जीभ कहैं जिय हानि नहीं तुझ, जी सब जीवन कौ सुख पावै ।।

हे भाई ! कठोर वचन बोलकर व्यर्थ ही क्यों अपना यश और धर्म नष्ट करते हो ? अच्छे व कोमल वचन क्यों नहीं बोलते हो ?

देखो ! कोमल वचन सबके मन को अच्छे लगते हैं; जबकि उन्हें बोलने में कोई धन नहीं लगता, बोलने पर तालु भी नहीं छिदता, जीभ भी नहीं भिदती, रुपया-पैसा कुछ घट नहीं जाता और दरिद्रता भी नहीं आ जाती । अपनी जीभ से जी को भाने वाले मधुर और कोमल वचन बोलने में तुम्हें हानि कुछ भी नहीं है तथा सुननेवाले सब जीवों का मन और प्रसन्न हो जाता है ।

धैर्य-धारण का उपदेश (७१) [कवित्त मनहर]

आयौ है अचानक भयानक असाता कर्म,
ताके दूर करिवे को बलि कौन अह रे ।
जे जे मन भाये ते कमाये पूर्व पाप आप,
तेई अब आये निज उदैकाल लह रे ।।
एरे मेरे वीर ! काहे होत है अधीर यामैं,
कोउ कौ न सीर तू अकेलौ आप सह रे ।
भयैं दिलगीर कछू पीर न विनसि जाय,
ताही तैं सयाने ! तू तमासगीर रह रे ।।

हे मेरे सयाने भाई ! यदि तुम्हारे ऊपर भयानक असाता कर्म का अचानक उदय आ गया है तो तुम इससे अधीर क्यों होते हो, क्योंकि अब इसे टालने में कोई समर्थ नहीं है । तुमने स्वयं ने अपनी इच्छानुसार प्रवर्तन करके जो-जो पाप पहले कमाये थे, वे ही अब अपना उदयकाल आने पर तुम्हारे पास आये हैं । तुम्हारे कर्मों के इस फल को अब दूसरा कोई नहीं बाँट सकता, इसे तुम्हें स्वयं अकेले ही भोगना होगा । अतः अब चिंतित होने से कोई लाभ नहीं है । चिन्ता करने से दुःख मिट नहीं जावेगा । अब तो एक ही रास्ता है कि तुम ज्ञाता-द्रष्टा बने रहो – तमाशा देखने वाले बने रहो, तमाशा करने या खेलने वाले मत बनो ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होनहार दुर्निवार (७२) [कवित्त मनहर]

कैसे कैसे बली भूप भू पर विख्यात भये,
वैरीकुल काँपें नेकु भहौं के विकार सौं।
लंघे गिरि-सायर दिवायर-से दिपैं जिनों,
कायर किये हैं भट कोटिन हुँकार सौं॥
ऐसे महामानी मौत आये हू न हार मानी,
क्यों ही उतरें न कभी मान के पहार सौं।
देव सौं न हारे पुनि दानो सौं न हारे और,
काहू सौं न हारे एक हारे होनहार सौं॥

देखो तो सही ! इस पृथ्वी पर ऐसे-ऐसे बलशाली व प्रसिद्ध राजा उत्पन्न हो गये हैं, जिनकी भौंहों के तनिक-सी टेढ़ी करने पर शत्रुओं के समूह काँप उठते थे, जो पहाड़ों और समुद्रों को लाँघ सकते थे, जो सूर्य के समान तेजस्वी थे, जिन्होंने अपनी हुंकार मात्र से करोड़ों योद्धाओं को कायर बना दिया था और अभिमानी ऐसे कि कभी मान के पहाड़ से नीचे उतरे ही नहीं, जिन्होंने कभी मौत से भी अपनी हार नहीं मानी, जो कभी किसी से नहीं हारे, न किसी देव से और न किसी दानव से, परन्तु अहो ! वे भी एक इस होनहार से हार गये।

काल-सामर्थ्य (७३)

लोहमई कोट केई कोटन की ओट करौ,
काँगुरेन तोप रोपि राखो पट भेरिकैं।
इन्द्र चन्द्र चौंकायत चौकस ह्वै चौकी देहु,
चतुरंग चमू चहूँ ओर रहो घेरिकैं॥
तहाँ एक भौंहिरा बनाय बीच बैठौ पुनि,
बोलौ मति कोऊ जो बुलावै नाम टेरिकैं।
ऐसैं परपंच-पाँति रचौ क्यों न भाँति-भाँति,
कैसैं हू न छोरै जम देख्यौ हम हेरिकैं॥

एक लौहमय किला बनवाइये, उसे अनेक किलों से घिरवा दीजिये, किलों के ऊपर तोपें रखवा दीजिये, इन्द्र-चन्द्र आदि जैसे पहरेदारों को चौकन्ने होकर पहरे पर बिठा दीजिये, किंवाड़ भी बन्द कर लीजिये, किले के चारों ओर चतुरंगिणी सेना का घेरा डलवा दीजिये तथा आप उसके भीतर ही भीतर के लौहमय किले के तलघर में जाकर बैठ जाइये, कोई चाहे कितनी ही आवाजें लगावें, आप बोलिये तक नहीं।

इसी प्रकार के और भी कितने ही झूठे इन्तजामों का ढेर लगा दीजिए, पर यह हमने खूब खोजकर देख लिया है कि मृत्यु कभी नहीं छोड़ेगी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(७४) [मत्तगयन्द सवैया]

अन्तक सौं न छूटै निहचै पर, मूरख जीव निरन्तर धूजै ।
चाहत है चित मैं नित ही सुख, होय न लाभ मनोरथ पूजै ।।
तौ पन मूढ़ बँध्यौ भय आस, वृथा बहु दुःखदवानल भूजै ।
छोड़ विचच्छन ये जड़ लच्छन, धीरज धारि सुखी किन हूजै ।।

यह निश्चित है कि मृत्यु से बचा नहीं जा सकता है, तथापि अज्ञानी प्राणी निरन्तर भयभीत बना रहता है ।

वह सदा सुखसामग्री की इच्छा करता रहता है, किन्तु उनकी प्राप्ति नहीं होती और इसके मनोरथ कभी पूरे नहीं होते, तथापि भय और आशा लगाये बैठा रहता है और व्यर्थ ही दुःखरूपी प्रबल आग में जलता रहता है । हे विचक्षण ! तुम इन मूर्खता के लक्षणों का त्याग कर धैर्य धारण कर सुखी क्यों नहीं हो जाते हो ? ।

धैर्य-शिक्षा (७५)

जो धनलाभ लिलार लिख्यौ, लघु दीरघ सुक्रत के अनुसारै ।
सो लहिहै कछू फेर नहीं, मरुदेश के ढेर सुमेर सिधारै ।।
घाट न बाढ़ कहीं वह होय, कहा कर आवत सोच विचारै ।
कूप किधौं भर सागर मैं नर, गागर मान मिलै जल सारै ।।

थोड़े या बहुत पुण्य के अनुसार जितना धनलाभ भाग्य में लिखा होता है, व्यक्ति को उतना ही मिलता है – इसमें कोई सन्देह नहीं, फिर चाहे वह मारवाड़ के टीलों पर रहे और चाहे सुमेरु पर्वत पर चला जाए । वह कितना ही सोच-विचार क्यों न कर ले, परन्तु उससे वह किंचित् भी कम या अधिक नहीं हो सकता । अरे भाई ! कुआ हो या सागर, जल तो तुम्हें सर्वत्र उतना ही मिलेगा, जितनी बड़ी तुम्हारी गागर होगी ।

आशारूपी नदी (७६) [कवित्त मनहर]

मोह से महान ऊँचे पर्वत सौं ढर आई,
तिहूँ जग भूतल मैं याहि विसतरी है ।
विविध मनोरथमै भूरि जल भरी बहै,
तिसना तरंगनि सौं आकुलता धरी है ।।
परैं भ्रम-भौंर जहाँ राग-सो मगर तहाँ,
चिंता तट तुङ्ग धर्मवृच्छ ढाय ढरी है ।
ऐसी यह आशा नाम नदी है अगाध ताकौं,
धन्य साधु धीरज-जहाज चढ़ि तरी है ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह आशारूपी अगाध नदी मोहरूपी महान् पर्वत से ढलकर आई है, तीनों लोक रूपी पृथ्वी पर बह रही है, इसमें विविध मनोरथमयी जल भरा हुआ है, तृष्णारूपी तरंगों के कारण इसमें आकुलता उत्पन्न हो रही है, भ्रमरूपी भँवरे पड़ रही हैं, इसमें रागरूपी बड़ा मगरमच्छ है, चिन्तारूपी इसके तट हैं और विशाल धर्मवृक्ष की ढाय को गिरा कर बह रही है।

अहो ! वे साधु धन्य हैं, जिन्होंने धैर्यरूपी जहाज पर चढ़कर इसे पार कर लिया है।

महामूढ़-वर्णन (७७) [कवित्त मनहर]

जीवन कितेक तामैं कहा बीत बाकी रह्यौ,
तापै अंध कौन-कौन करै हेर फेर ही।
आपको चतुर जानै औरन को मूढ़ मानैं,
साँझ होन आई है विचारत सवेर ही।।
चाम ही के चखन तैं चितवै सकल चाल,
उर सौं न चौंधे, कर राख्यौ है अँधेर ही।
बाहै बान तानकैं अचानक ही ऐसौ जम,
दीसहै मसान थान हाड़न कौ ढेर ही।।

यह जीवन वैसे ही कितना थोड़ा-सा है, उसमें भी बहुत सारा बीत ही चुका है, अब शेष बचा ही कितना है, परन्तु यह अज्ञानी प्राणी न जानें क्या-क्या उलटे-सीधे करता रहता है, ऊपर से अपने को होशियार समझता है, और सबको तो मूर्ख समझता है। देखो तो सही ! सन्ध्या होने जा रही है और यह अभी सवेरा ही समझ रहा है। अभी भी सारे जगत् और उसके क्रियाकलापों को अपनी चर्म-चक्षुओं से ही देख रहा है, हृदय की आँखों से नहीं देखता; हृदय की आँखों में तो इसने अभी भी अँधेरा कर रखा है। लेकिन अचानक (शीघ्र ही) यमराज एक बाण ऐसा खींचकर चलाने वाला है कि बस फिर शमशान में हड्डियों का ढेर ही दिखाई देगा।

(७८)

केती बार स्वान सिंघ साँबरे सियाल साँप,
सिंधुर सारङ्ग सूसा सूरी उदरै पर्‌यो।
केती बार चील चमगादर चकोर चिरा,
चक्रवाक चातक चँडूल तन भी धर्‌यौ।।
केती बार कच्छ मच्छ मेंडक गिंडोला मीन,
शंख सीप कौंड़ी ह्वै जलूका जल मैं तिर्‌यौ।
कोऊ कहै 'जाय रे जनावर !' तो बुरो मानै,
यौं न मूढ़ जानै मैं अनेक बार ह्वै मर्‌यौ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यद्यपि यह अज्ञानी कितनी ही बार कुत्ता, सिंह, साँभर, सियार, सर्प, हाथी, हिरण, खरगोश, सुअर आदि अनेक थलचर प्राणियों के रूप में उत्पन्न हुआ है, कितनी ही बार चील, चमगादड़, चकोर, चिड़िया, चकवा, चातक, चंडूल आदि अनेक नभचर प्राणियों के रूप में उत्पन्न हुआ है और कितनी ही बार कछुआ, मछली, मेंढक, गिंदोड़ा, मछली, शंख, सीप, कौंडी आदि अनेक जलचर प्राणियों के रूप में उत्पन्न हुआ है, तथापि यदि कोई इसे 'जानवर' कहता है तो बुरा मानता है, यह विचारकर समता धारण नहीं करता कि जानवर तो मैं अनेक बार हुआ हूँ, हो-होकर मरा हूँ।

दुष्ट कथन (७९) [छप्पय]

करि गुण-अमृत पान, दोष-विष विषम समप्पै।
बंकचाल नहिं तजै, जुगल जिह्वामुख थप्पै।।
तकै निरन्तर छिद्र, उदै-परदीप न रुच्चै।
बिन कारण दुख करैं, वैर-विष कबहूँ न मुच्चै।।
वर मौनमन्त्र सौं होय वश, सङ्गत कीयें हान है।
बहु मिलत बान यातैं सही, दुर्जन साँप-समान है।।

दुर्जन वास्तव में सर्प के समान है, क्योंकि उसमें सर्प की बहुत आदतें (समानतायें) मिलती हैं।

जिसप्रकार सर्प दूध पीकर भी जहर ही उगलता है, उसीप्रकार दुर्जन व्यक्ति भी गुणरूपी अमृत पीकर भी दोषरूपी भीषण जहर ही उगलता है। जिसप्रकार सर्प कभी अपनी टेढ़ी चाल को नहीं छोड़ता, उसी प्रकार दुर्जन व्यक्ति भी कभी मायाचारी रूप वक्रता का त्याग नहीं करता। जिसप्रकार सर्प के मुँह में दो जीभ होती है, उसीप्रकार दुर्जन भी दोगला होता है, वह कभी किसी को कुछ कहता है और कभी किसी से कुछ और ही कहता है। जिसप्रकार सर्प सदा बिल की ही खोज में रहता है, उसीप्रकार दुर्जन भी सदा बुराइयों की ही खोज में रहता है। जिसप्रकार सर्प को दीपक का जलना पसन्द नहीं होता, उसीप्रकार दुर्जन को दूसरे की उन्नति पसन्द नहीं होती। जिसप्रकार सर्प दूसरों को अकारण ही दुःखी करता है, उसीप्रकार दुर्जन भी दूसरों को अकारण ही परेशान करता है। जिसप्रकार सर्प जहर को कभी नहीं छोड़ता, उसीप्रकार दुर्जन भी बैररूपी जहर को कभी नहीं छोड़ता। जिसप्रकार सर्प मंत्र से वशीभूत हो जाता है, उसीप्रकार दुर्जन भी मौनरूपी श्रेष्ठ मन्त्र से वशीभूत हो जाता है। जिसप्रकार सर्प की संगति से व्यक्ति को हानि होती है, उसीप्रकार दुर्जन की संगति से भी व्यक्ति की हानि होती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विधाता से तर्क (८०) [मनहर कवित्त]

सज्जन जो रचे तौ सुधारस सौं कौन काज,
दुष्ट जीव किये कालकूट सौ कहा रही ।
दाता निरमापे फिर थापे क्यौं कलपवृक्ष,
जाचक विचारे लघु तृणहू तैं हैं सही ।।
इष्ट के संयोग तैं न सीरौ घनसार कछू,
जगत कौ ख्याल इन्द्रजाल सम है वही ।
ऐसी दोय दोय बात दीखैं विधि एक ही सी,
काहे को बनाई मेरे धोखौ मन है यही ।।

हे विधाता ! इस जगत् में एक जैसी ही दो-दो वस्तुएँ (बातें) दिखाई देती हैं, अतः मेरे मन में एक शंका है कि तुमने ऐसा क्यों किया ? एक जैसी ही दो-दो वस्तुएँ क्यों बनाई ?

जब तुमने सज्जन बना दिये तो फिर अमृत बनाने की क्या आवश्यकता थी ? और जब तुमने दुर्जन बना दिये थे तो फिर जहर बनाने की क्या आवश्यकता रह गई थी ? जब तुमने दाता बना दिये थे तो कल्पवृक्ष बनाने की क्या आवश्यकता थी और जब याचक बना दिये तो तिनके बनाने की क्या आवश्यकता थी ? याचक तो वस्तुतः तिनके से भी छोटे हैं । जब तुमने इष्टसंयोग बना दिया था तो कपूर बनाने की क्या आवश्यकता थी ? कपूर कोई इष्टसंयोग से तो अधिक शीतल है नहीं । और जब तुमने जगत् का विचित्र स्वरूप बना दिया तो इन्द्रजाल बनाने की क्या आवश्यकता थी ? जगत् का विचित्र स्वरूप तो वैसे ही इन्द्रजाल के समान है ।

चौबीस तीर्थङ्करों के चिह्न (८१) [छप्पय]

गऊपुत्र गजराज, बाजि बानर मनमोहै ।
कोक कमल साँथिया, सोम सफरीपति सोहै ।।
सुरतरु गैंडा महिष, कोल पुनि सेही जानौं ।
वज्र हिरन अज मीन, कलश कच्छप उर आनौं ।।
शतपत्र शंख अहिराज हरि, रिषभदेव जिन आदि ले ।
श्री वर्द्धमान लौं जानिये, चिह्न चारु चौबीस ये ।।

(१) बैल, (२) हाथी, (३) घोड़ा, (४) बन्दर, (५) चकवा, (६) कमल, (७) साँथिया, (८) चन्द्र, (९) मगर, (१०) कल्पवृक्ष, (११) गैंडा, (१२) भैंसा, (१३) शूकर, (१४) सेही, (१५) वज्र, (१६) हिरन, (१७) बकरा, (१८) मछली, (१९) कलश, (२०) कछुआ, (२१) नीलकमल, (२२) शंख, (२३) सर्प, (२४) सिंह । ये ऋषभदेव से महावीर तक चौबीस तीर्थङ्करों के चौबीस सुन्दर चिह्न हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री ऋषभदेव के पूर्वभव (८२) [कवित्त मनहर]

आदि जयवर्मा दूजे महाबल भूप तीजे,
सुरग-ईशान ललितांग देव थयौ है।
चौथे वज्रजंघ एह पाँचवें जुगल देह,
सम्यक् ले दूजे देवलोक फिर गयौ है।।
सातवें सुबुद्धिराय आठवें अच्युत-इन्द्र,
नवमैं नरेंद्र वज्रनाभ नाम भयौ है।
दशैं अहमिन्द्र जान ग्यारवें रिषभ-भान,
नाभिवंश भूधर के सीस जन्म लयौ है।।

पहले तीर्थंकर श्री ऋषभदेव के भव क्रमशः इसप्रकार हैं :—

१. जयवर्मा, २. महाबल नामक राजा, ३. ईशान स्वर्ग में ललितांग देव, ४. वज्रजंघ राजा, ५. भोगभूमि में युगलिया, ६. दूसरे स्वर्ग में देव, ७. सुबुद्धि नामक राजा, ८. अच्युत स्वर्ग में इन्द्र, ९. वज्रनाभि चक्रवर्ती, १०. अहमिन्द्र, ११. ऋषभदेव।

श्री चन्द्रप्रभ के पूर्वभव (८३) [गीता]

श्रीवर्म भूपति पालि पुहमी, स्वर्ग पहले सुर भयौ।
पुनि अजितसेन छखंडनायक, इन्द्र अच्युत मैं थयौ।।
वर पद्मनाभि नरेश निर्जर, वैजयन्ति विमान मैं।
चंद्राभ स्वामी सातवें भव, भये पुरुष पुरान मैं।।

आठवें तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ के भव क्रमशः इसप्रकार हैं :—

१. श्रीवर्मा नामक राजा, २. पहले स्वर्ग में देव, ३. अजितसेन चक्रवर्ती, ४. सोलहवें स्वर्ग में इन्द्र, ५. पद्मनाभि राजा, ६. वैजयन्त नामक दूसरे अनुत्तर विमान में देव, ७. चन्द्रप्रभ स्वामी।

श्री शांतिनाथ के पूर्वभव (८४) [कवित्त – ३१ मात्रा]

सिरीसेन आरज पुनि स्वर्गी, अमिततेज खेचर पद पाय।
सुर रविचूल स्वर्ग आनत मैं, अपराजित बलभद्र कहाय।।
अच्युतेन्द्र वज्रायुध चक्री, फिर अहमिन्द्र मेघरथ राय।
सरवारथसिद्धेश शांतजिन, ये प्रभु की द्वादश परजाय।।

सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ के भव क्रमशः इसप्रकार हैं :—

१. श्रीसेन, २. भोगभूमिया, ३. स्वर्गवासी देव, ४. अमिततेज नामक विद्याधर, ५. तेरहवें स्वर्ग में देव, ६. अपराजित नामक बलभद्र, ७. सोलहवें स्वर्ग में देव, ८. वज्रायुध चक्रवर्ती, ९. अहमिन्द्र, १०. राजा मेघरथ, ११. स्वर्थिसिद्धि में देव, १२. शान्तिनाथ स्वामी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री नेमिनाथ के पूर्वभव (८५) [छप्पय]

पहले भव वन भील, दुतिय अभिकेतु सेठ घर।
तीजे सुर सौधर्म, चौथ चिन्तागति नभचर ।।
पंचम चौथे स्वर्ग, छठें अपराजित राजा।
अच्युतेंद्र सातवें, अमरकुलतिलक विराजा ।।
सुप्रतिष्ठ राय आठम नवें, जन्म जयन्तविमान धर।
फिर भये नेमि हरिवंश-शशि, ये दश भव सुधि करहु नर ।।

बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ के पूर्वभव क्रमशः इसप्रकार हैं :—
१. वन में भील, २. अभिकेतु नामक सेठ, ३. सौधर्म स्वर्ग में देव, ४. चिंतागति विद्याधर, ५. चौथे स्वर्ग में देव, ६. अपराजित राजा, ७. अच्युत स्वर्ग में इन्द्र, ८. सुप्रतिष्ठ राजा, ९. जयन्त विमान में देव, १०. नेमिनाथ।

श्री पार्श्वनाथ के भवान्तर (८६) [कवित्त ३१ मात्रा]

विप्रपूत मरुभूत विचच्छन, वज्रघोष गज गहनमँझार।
सुर पुनि सहसरश्मि विद्याधर, अच्युतस्वर्ग अमरि-भरतार ।।
मनुज-इन्द्र मध्यम ग्रैवेयिक, राजपुत्र आनन्दकुमार।
आनतेंद्र दशवें भव जिनवर, भये पासप्रभु के अवतार ।।

तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के पूर्वभव क्रमशः इसप्रकार हैं :— १. मरुभूति ब्राह्मण, २. वज्रघोष हाथी, ३. देव, ४. सहस्ररश्मि विद्याधर, ५. सोलहवें स्वर्ग में देव, ६. चक्रवर्ती, ७. मध्यमग्रीवक में देव, ८. आनन्द-कुमार राजा, ९. आनत नामक तेरहवें स्वर्ग में इन्द्र, १०. पार्श्वनाथ।

राजा यशोधर के भवान्तर (८७) [मत्तगयंद (सवैया)]

राय यशोधर चन्द्रमति, पहले भव मंडल मोर कहाये।
जाहक सर्प नदीमध मच्छ, अजा-अज भैंस अजा फिर जाये ।।
फेरि भये कुकड़ा-कुकड़ी, इन सात भवांतर में दुख पाये।
चूनमई चरणायुध मारि, कथा सुन संत हिये नरमाये ।।

राजा यशोधर और रानी चन्द्रमती ने आटे के मुर्गे की बलि देने के कारण क्रमशः इन सात भवों में अपार कष्ट सहन किये – १. मोर-मोरनी, २. सर्प-सर्पिणी, ३. मच्छ-मच्छी, ४. बकरा-बकरी, ५. भसा-भैंस, ६. बकरा-बकरी और ७. मुर्गा-मुर्गी।

वैरागी पुरुष इनकी कहानी समझकर अपने हृदय में बहुत वैराग्य उत्पन्न करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुबुद्धि सखी के प्रति वचन (८८) [मनहर कवित्त]

कहै एक सखी स्यानी सुन री सुबुद्धि रानी !
तेरौ पति दुखी देख लागै उर आर है।
महा अपराधी एक पुग्गल है छहौं माँहि,
सोई दुख देत दीसै नाना परकार है।।
कहत सुबुद्धि आली कहा दोष पुग्गल कौं,
अपनी ही भूल लाल होत आप ख्वार है।
खोटौ दाम आपनो सराफै कहा लगै वीर,
काहू कौ न दोष मेरौ भौंदू भरतार है।।

एक चालाक सखी बोली :- हे सुबुद्धि रानी ! तुम्हारा पति बहुत दुःखी हो रहा है, लगता है उसके हृदय में कोई बड़ा शूल चुभा हो। हे सखी, सुनो ! इस लोक में जो ६ द्रव्य हैं, उनमें एक पुद्गल नामक द्रव्य बड़ा अपराधी है, वही तुम्हारे पति को नाना प्रकार से कष्ट दे रहा दिखता है।

प्रत्युत्तर में सुबुद्धि रानी कहती है :- हे सखी ! इसमें पुद्गल का क्या दोष है ? मेरे स्वामी स्वयं ही अपनी भूल से दुःखी होते हैं। हे सखी ! जब अपना ही सिक्का खोटा हो तो सर्राफ को क्या दोष दें ? अतः वास्तव में पुद्गल आदि अन्य किसी का भी कोई दोष नहीं है, मेरा भरतार स्वयं ही भोंदू है।

गुजराती भाषा में शिक्षा (८९) [करिखा]

ज्ञानमय रूप रूड़ो सदा सासतौ, ओलखै क्यौं न सुखपिंड भोला।
बेगली देहथी नेह तूं शूं करै, एहनी टेव जो मेह ओला।।
मेरने मान भवदुक्ख पाम्या पछी, चैन लाध्यो नथी एक तोला।
वली दुख वृच्छनो बीज बावै अने, आपथी आपनै आप भोला।

हे भोले भाई ! तुम सुख के पिण्ड हो। तुम्हारा रूप ज्ञानमय है, सुन्दर है, शाश्वत (सतत) है, तुम उसे पहिचानते क्यों नहीं हो ? तथा शरीर तुमसे भिन्न है, पराया है, तुम उससे राग क्यों करते हो ? उसका स्वरूप तो बरसात के ओले की भाँति क्षणभंगुर है। हे भाई ! इस राग के कारण तुमने मेरु पर्वत के समान अपार दुःख झेले हैं, कभी एक तोला भी सुख प्राप्त नहीं किया, फिर भी तुम पुनः वही दुःखरूपी वृक्ष का बीज बो रहे हो - तुम स्वयं ही अपने आपको भूल रहे हो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्यलिंगी मुनि (६०) [मत्तगयन्द सवैया]

शीत सहैं तन धूप दहैं, तरुहेट रहैं करुना उर आनैं।
झूठ कहैं न अदत्त गहैं, वनिता न चहैं लव लोभ न जानैं॥
मौन वहैं पढ़ि भेद लहैं, नहिं नेम जहैं व्रत रीति पिछानै।
यौं निबहैं पर मोख नहीं, विन ज्ञान यहै जिनवीर बखानैं॥

शीतऋतु में नदी तट पर रहकर सर्दी सहन करता है, गर्मी में पर्वत पर जाकर शरीर जलाता है और वर्षा ऋतु में वृक्ष के नीचे रहकर बरसात भी सहन करता है; अपने हृदय में करुणाभाव पालता है, झूठ नहीं बोलता है, चोरी नहीं करता है, कुशील-सेवन की अभिलाषा नहीं करता है और किंचित् लोभ भी नहीं रखता है; मौन धारण करता है, शास्त्र पढ़कर उनके अर्थ भी जान लेता है, कभी प्रतिज्ञा भंग नहीं करता, व्रत करने की विधि को समझता है; तथापि भगवान महावीर कहते हैं कि यदि आत्मज्ञान नहीं है तो उसे मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

अनुभव-प्रशंसा (६१) [कवित्त मनहर]

जीवन अलप आयु बुद्धि बल हीन तामैं,
आगम अगाध सिंधु कैसें ताहि डाकहै।
द्वादशांग मूल एक अनुभौ अपूर्व कला,
भवदाघहारी घनसार की सलाक है॥
यह एक सीख लीजै याही कौ अभ्यास कीजै,
याकौ रस पीजै ऐसो वीरजिन-वाक है।
इतनो ही सार येही आतम कौ हितकार,
यहीं लौं मदार और आगैं ढूकढाक है॥

हे भाई! यह मनुष्यजीवन वैसे ही बहुत थोड़ी आयुवाला है, ऊपर से उसमें भी बुद्धि और बल भी बहुत कम हैं, जबकि आगम तो अगाध सागर के समान है, अतः इस जीवन में उसका पार कैसे पाया जा सकता है? इसलिए ऐसा करो कि सम्पूर्ण द्वादशांगरूप जिनवाणी का मूल जो आत्मा का अनुभव है, तुम उसे ही प्राप्त कर लो। यह आत्मानुभव अपूर्व कला है, संसाररूपी ताप को शान्त करने के लिए चन्दन की शलाका है।

अतः इस जीवन में एकमात्र आत्मानुभवरूप अपूर्व कला को ही सीख लो, आत्मानुभव का ही अभ्यास करो और आत्मानुभव का ही भरपूर आनन्द प्राप्त करो। यही भगवान महावीर की वाणी है। आत्मानुभव ही सारभूत है – प्रयोजनभूत है, मदार (करने लायक कार्य/उत्तरदायित्व) है, इस आत्मानुभव के अतिरिक्त अन्य सब तो बेकार की बातें हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवत्-प्रार्थना (९२)

आगम-अभ्यास होहु सेवा सरवज्ञ ! तेरी,
संगति सदीव मिलौ साधरमी जन की।
सन्तन के गुन कौ बखान यह बान परौ,
मेटौ टेव देव ! पर-औगुन कथन की ।।
सब ही सौं ऐन सुखदैन मुख वैन भाखौं,
भावना त्रिकाल राखौं आतमीक धन की ।
जौलौं कर्म काट खोलौं मोक्ष के कपाट तौलौं,
ये ही बात हूजौ प्रभु पूजौ आस मन की ।।

हे सर्वज्ञदेव ! मेरी अभिलाषा यह है कि मैं जबतक कर्मों का नाश करके मोक्ष का दरवाजा नहीं खोल लेता हूँ, तबतक मुझे सदा शास्त्रों का अभ्यास रहे, आपकी सेवा का अवसर प्राप्त रहे, साधर्मीजनों की संगति मिली रहे, सज्जनों के गुणों के बखान की आदत रहे, दूसरों के अवगुण कहने की आदत से मैं दूर रहूँ, सभी से उचित और सुखकारी वचन बोलूँ और हमेशा आत्मिक सुखरूप शाश्वत धन की ही भावना भाऊँ । हे प्रभो ! मेरे मन की यह आशा पूरी होवे ।

जिनधर्म-प्रशंसा (९३) [दोहा]

छये अनादि अज्ञान सौं, जगजीवन के नैन ।
सब मत मूठी धूल की, अंजन है मत जैन ।।

अनादिकालीन अज्ञान के कारण संसारी प्राणियों की आँखें बन्द पड़ी हैं । उनके लिए अन्य सब मत तो धूल की मुट्ठी के समान हैं, लेकिन जैनधर्म अंजन के समान है ।

अर्थात्, जिनधर्म के अतिरिक्त दुनियाँ के सभी धर्म अज्ञानी जीवों के अज्ञान का ही पोषण करते हैं, एकमात्र जिनधर्म ही अज्ञान का अभाव करने वाला है ।

(९४)

भूल नदी के तिरन कौ, और जतन कछु है न ।
सब मत घाट कुघाट हैं, राजघाट है जैन ।।

भ्रमरूपी नदी को तिरने के लिए जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है । जैनेतर सब धर्म तो उस नदी के खोटे घाट हैं; एक जैनधर्म ही राजघाट है, सच्चा रास्ता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(९५)

तीन भवन मैं भर रहे, थावर-जङ्गम जीव ।
सब मत भक्षक देखिये, रक्षक जैन सदीव ।।

तीनों लोकों में त्रस और स्थावर जीव भरे हुए हैं। वहाँ अन्य सब मत तो उनके भक्षक हैं और जैनधर्म उनका सदा रक्षक है।

(९६)

इस अपार जगजलधि मैं, नहिं नहिं और इलाज ।
पाहनवाहन धर्म सब, जिनवरधर्म जिहाज ।।

इस अपार संसार-सागर से पार होने के लिए जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं है। यहाँ अन्य सभी धर्म पत्थर के वाहन हैं, एकमात्र जैनधर्म ही पार उतारने वाला जहाज है।

(९७)

मिथ्यामत के मद छके, सब मतवाले लोय ।
सब मतवाले जानिये, जिनमत मत्त न होय ।।

इस दुनियाँ में अन्यमतों को माननें वाले सब लोग मिथ्यात्व की मदिरा पीकर मतवाले हो रहे हैं। किन्तु जिनमत को अपनाने वाला कभी मदोन्मत्त नहीं होता।

(९८)

मत-गुमानगिरि पर चढ़े, बड़े भये मन माँहि ।
लघु देखें सब लोक कौं, क्यौं हूँ उतरत नाँहि ।।

अन्यमतों को माननेवाले सब लोग अपने-अपने मत के अभिमानरूपी पहाड़ पर चढ़कर अपने ही मन में बड़े बन रहे हैं, वे अपने आगे सारी दुनियाँ को छोटा समझते हैं, कभी भी कैसे भी अभिमान के पहाड़ से नीचे नहीं उतर पाते।

(९९)

चामचखन सौं सब मती, चितवत करत निबेर ।
ज्ञाननैन सौं जैन ही, जोवत इतनो फेर ।।

जैनमत और अन्यमतों में इतना बड़ा भारी अन्तर है कि अन्यमतों को मानने वाले चर्मचक्षुओं से ही देखकर निर्णय करते हैं, जबकि जैन ज्ञानचक्षुओं से देखता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१००)

ज्यौं बजाज ढिग राखिकैं, पट परखैं परवीन ।
त्यौं मत सौं मत की परख, पावैं पुरुष अमीन ।।

जिसप्रकार बजाज दो वस्त्रों को पास-पास रखकर श्रेष्ठ वस्त्र की पहचान कर लेता है, उसीप्रकार सत्यनिष्ठ पुरुष दो मतों की उक्त प्रकार से तुलना करके श्रेष्ठ मत की पहचान कर लेता है ।

(१०१)

दोय पक्ष जिनमत विषैं, नय निश्चय-व्यवहार ।
तिन विन लहै न हंस यह, शिव-सरवर की पार ।।

जिनमत में निश्चय-व्यवहार नय रूप दो पक्ष हैं, जिनके बिना यह आत्मा संसार-सागर को पार कर मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं कर सकता ।

(१०२)

सीझे सीझैं सीझहीं, तीन लोक तिहुँ काल ।
जिनमत को उपकार सब, मत भ्रम करहु दयाल ।।

हे दयाल ! तीन लोक तीन काल में आज तक जितने भी सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य में होंगे; वह सब एकमात्र जिनमत का ही उपकार है । इसमें शंका न करो ।

(१०३)

महिमा जिनवर-वचन की, नहीं वचन-बल होय ।
भुज-बल सौं सागर अगम, तिरे न तीरहिं कोय ।।

जिनेन्द्र भगवान के वचनों की महिमा वचनों से नहीं हो सकती । अपार समुद्र को भुजाओं के बल से तैरकर न कभी कोई पार कर पाया, न कर पायेगा ।

(१०४)

अपने-अपने पंथ को, पोखै सकल जहांन ।
तैसैं यह मत पोखना, मत समझो मतिवान ।।

हे बुद्धिमान भाई ! हमारी उक्त बातों को, जिनमें अन्यमतों से जिनमत की विशेषता (श्रेष्ठता) बताई गई है, वैसा ही मतपोषण करना मत समझना, जैसा कि दुनियाँ के सब लोग अपने-अपने मतों की पुष्टि करते हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१०५)

इस असार संसार मैं, और न सरन उपाय।
जन्म-जन्म हूजो हमैं, जिनवर धर्म सहाय ।।

अहो ! इस असार संसार में जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है, साधन नहीं है। हमें प्रत्येक जन्म में जिनधर्म की ही सहायता प्राप्त होवे।

अन्तप्रशस्ति (१०६) [कवित्त मनहर]

आगरे मैं बालबुद्धि भूधर खंडेलवाल,
बालक के ख्याल-सो कवित्त कर जानै है।
ऐसे ही कहत भयो जैसिंह सवाई सूबा,
हाकिम गुलाबचन्द रह तिहि थानै है ।।
हरिसिंह साह के सुवंश धर्मरागी नर,
तिनके कहे सौं जोरि कीनी एक ठानै है।
फिरि-फिरि प्रेरे मेरे आलस को अंत भयो,
उनकी सहाय यह मेरो मन मानै है ।।

मैं, भूधरदास खण्डेलवाल, आगरा में बालकों के खेल जैसी कविता-रचना करता हूँ। ये उक्त छन्द मैंने सवाई जयसिंह सूबा के हाकिम श्री गुलाबचन्द्रजी और श्री हरिसिंहजी शाह के वंशज धर्मानुरागी पुरुषों के कहने से एकत्रित किये हैं।

उन्हीं लोगों की पुन: पुन: प्रेरणा से मेरे आलस्य का अन्त हुआ है। मैं उनका हृदय से आभार मानता हूँ।

(१०७) [दोहा]

सतरह सै इक्यासिया, पोह पाख तमलीन।
तिथि तेरस रविवार को, शतक सम्पूर्ण कीन ।।

यह शतक पौष कृष्णा त्रयोदशी रविवार संवत् १७८१ को पूरा किया।

4618

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छन्दानुक्रमणिका

अंतक सौं न छुटै····	७४	कृमिरास कुवास····	५३
अघ अंधेर····	४९	केती वार स्वान····	७८
अपने अपने पंथ कौं····	१०४	कैसे करि केतकी ···	१६
अहो इन आपने····	४०	कैसे कैसे वली भूप····	७२
आगम अभ्यास····	९२	गऊपुत्र गजराज····	८१
आगरे मैं वालबुद्धि ···	१०६	चाम-चखन सौं····	९९
आदि जयवर्मा ···	८२	चाहत हैं धन····	३२
आयौ है अचानक ···	७१	चिंता तजै न चोर····	५६
इस अपार जगजलधि ···	९६	चितवत वदन····	५
इस असार संसार····	१०५	छये अनादि अज्ञान····	९३
ए विधि ! भूल भई····	६६	छेमनिवास छिमा····	६९
कंचन कुंभन····	६५	जंगम जिय कौ····	५२
कंचन-भंडार भरे····	३४	जनम-जलधि जलजान····	८
कब गृहवास सौं ···	१७	जयौ नाभिभूपाल····	४
कर कर जिनगुन पाठ····	२२	जाकौं इन्द्र चाहैं····	४१
करनों कछु न करन तैं····	३	जिनकैं जिन के····	६३
करि गुण-अमृत पान····	७९	जीवन अलप ···	९१
कहै एक सखी····	८८	जीवन कितेक ···	७७
कहै पशु दीन····	४७	जूआ खेलन····	५०
काउसग्ग मुद्रा····	२	जे परनारि निहार ···	६०
कानन मैं बसै····	५५	जैन वचन····	३६
कानी कौड़ी काज····	२३	जोई दिन कटै····	३७
कानी कौड़ी विषयसुख····	२४	जो जगवस्तु····	४६
काहू घर पुत्र जायौ····	२१	जो धनलाभ····	७५
काहे को वोलत····	७०	जोलौं देह तेरी ··	२६
कुगति-वहन गुनगहन-दहन····	५७	ज्ञानजिहाज बैठि ···	१
		ज्ञानमय रूप····	८९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानमहावत डारि....	६७	मिथ्यामत के मद....	६७
ज्यौं वजाज....	१००	मूल नदी के....	६४
ढई-सी सराय....	६८	मोह-से महान ऊँचे....	७६
तीन भवन मैं....	६५	या जगमन्दिर....	१५
तीरथनाथ प्रनाम....	१२	ये ही छहविधि....	४६
तू नित चाहत....	१६	रहौ दूर अंतर....	१०
तेज तुरंग....	३३	राग उदै जग अंध....	६४
दश दिन विषय....	२५	राग उदै भोगभाव....	१८
दिढ़कर्माचल....	६	राय यशोधर....	८७
दिढ़ शील शिरोमनि....	५६	रूप को न खोज....	३६
दिवि दीपक लोय....	५८	लोहमई कोट....	७३
दृष्टि घटी पलटी....	३८	विप्रपूत मरुभूत....	८६
देखहु जोर जरा....	४२	वीरहिमाचल तैं....	१४
देखो भर जोबन....	३५	शांति जिनेश....	६
देव-गुरु साँचे....	४४	शीतरितु जोरैं....	१३
दोय पक्ष....	१०१	शीत सहैं तन....	६०
धनकारन पापिनी....	५४	शोभित प्रियंग....	७
ध्यान-हुताशन....	११	श्रीवर्म भूपति....	८३
पहले भव....	८५	सकल पाप संकेत....	५१
पाप नाम नरपति....	६२	सज्जन जो रचे....	८०
प्रथम पांडवा....	६१	सतरह सै इक्यासिया....	१०७
बाय लगी कि....	३१	साँचो देव सोई....	४५
बालपनैं न सँभार....	२६	सार नर देह....	३०
बालपनैं वाल....	२८	सिरीसेन....	८४
मत-गुमानगिरि....	६८	सीझै सीझैं....	१०२
महिमा जिनवर....	१०३	सुमतिहिं तजि....	४३
मात-पिता रज....	२०	सौ वरष आयु....	२७

4618

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्त्वप्रचार ! आत्मानुभूति !!

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन

शाखा भिण्ड (मध्यप्रदेश)

स्थापना : जुलाई १९८३ ई०

उद्देश्य :

स्थानीय युवा पीढ़ी में तत्त्वज्ञान के गहरे संस्कार डालना और उसे जिनधर्म के प्रचार-प्रसार एवं धर्मायतनों की सुरक्षा हेतु संगठित करना ।

गतिविधियाँ :

वीतराग-विज्ञान पाठशाला चलाना ।

सत्साहित्य-प्रकाशन ।

धार्मिक शिक्षण-शिविरों का आयोजन ।

साहित्य-विक्रय-केन्द्रों की स्थापना ।

सामूहिक स्वाध्याय एवं जिनेन्द्र-पूजन-भक्ति को प्रोत्साहन ।

धार्मिक सांस्कृतिक कार्यक्रम ।

धार्मिक झाँकियाँ लगाना ।

हृदयमोहन जैन
अध्यक्ष

कौशलकिशोर जैन
मन्त्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi